Vol. 7
No. 12
DP-13

वैदिक वाग् ज्योतिः - प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882

DP-13

वैदिक वाग् ज्योतिः
Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed & Peer-Reviewed
Research Journal on Vedic Studies
(UGC Approved Half Yearly Journal)

Vol./ वर्ष–7 January-June 2019 No./ अंक 12

Special Issue
SCIENCE & PHILOSOPHY : A VEDIC PERSPECTIVE

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेदविभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
(UGC Approved Half Yearly Journal)
January-June 2019

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed & Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Patrons

Dr. Satyapal Singh, Chancellor, GKV, Haridwar
Prof. Vinod Kumar, Vice-Chancellor, GKV, Haridwar

Chief Editor

Prof. Dinesh Chandra Shastri
Ex-Head, Dept. of Veda, GKV,
Haridwar-249 404 (U.K.) India
Email - dineshcshastri@gmail.com
Tel : +91-9410192541

Advisory Board

Prof. Nicholas Kazanas, Athens (Greece)
Dr. Rajendra Ayurvedalankar, Haridwar
Dr. Vinod Chandra Vidyalankar, Jwalapur
Prof. Maan Singh, Roorkee
Prof. Shashi Tiwari, "President Awardee" Delhi
Prof. Lekhram Sharma, Amritsar
Prof. Suneel Joshi, Haridwar
Prof. Ishwar Bharadwaj, Haridwar
Prof. Rakesh Sharma, Haridwar
Prof. Bheem Singh, Kurukshetra
Prof. Rajendra Vidyalankar, Kurukshetra
Prof. Vedpal (Meerut)
Prof. Kamalesh Chaukashi, Ahamedabad
Prof. Renubala, Amritsar
Dr. Nagendra K. Neeraj, Haridwar
Prof. Sharada Sharma, Delhi
Prof. M.R. Verma, Haridwar
Prof. R.C. Dubey, Haridwar
Prof P.C. Joshi, Haridwar
Prof. Pankaj Madan, Haridwar
Prof. L.P. Purohit, Haridwar
Dr. Aparna Dhir, New Delhi
Dr. Anju Kumari
Dr. R.G. Murli Krishna, Delhi
Dr. Udham Singh

Distinguished Advisors

Acharya Balkrishna, V.C., Patanjali University
Prof. Devi Prasad Tripathi, V.C., U.S. University

Departmental Advisory Board

Prof. Roopkishor Shastri
Prof. Manudev Bandhu

Reviewers

Acharya Balveer, Rohtak
Prof. Veerendra Alankar

Finance Advisor

Sh. R.K. Mishra, F.O.
Sh. Shashi Kant Sharma, ACMA
Sh. Naveen Kumar

Business Manager

Department of Veda & Librarian
GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Subscription

Rs. 200.00 Annual, US $ 20,
Single Copy: Rs. 100.00
Rs. 1000.00 Five Year's
Payment Mode :
D.D. in favour of Registrar,
G.K.V. Haridwar (U.K.)

Published by

Prof. Dinesh Bhatt
Registrar, GKV, Haridwar - 249 404
(Uttarakhand) India

Printed at

D.V. Printers
97-U.B., Jawhar Nager, Delhi-110007
Mob.: 09990279798, 09818279798

ISSN : 2277-4351
RNI : UTTMUL 2012/53882

वैदिक वाग् ज्योतिः

Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed & Peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

(UGC Approved Half Yearly Journal)

Vol./वर्ष–7 **January–June 2019** **No./अंक 12**

Special Issue
SCIENCE & PHILOSOPHY : A VEDIC PERSPECTIVE

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

वैदिक वाक्

मि॒त्रꣳ हु॑वे पू॒तद॑क्षं॒ वरु॑णं च रि॒शाद॑सम्।
धिय॑ं घृ॒ताचीꣳ॑ साध॑न्ता।। यजु. 33/57

पदार्थः—(मित्रम्) सुहृदम् (हुवे) स्वीकरोमि (पूतदक्षम्) पवित्रबलम् (वरुणम्) धार्मिकम् (च) (रिशादसम्) हिंसकानां हिंसकम् (धियम्) प्रज्ञाम् (घृताचीम्) या घृतमुदकमञ्चति तां रात्रिम्। घृताचीति रात्रिना।। निघं. 1।7।। (साधन्ता) साधन्तौ।

अन्वयः—हे मनुष्याः! यथाऽहंधियं घृताचीञ्च साधन्ता पूतदक्षं मित्रं रिशादसं वरुणञ्च हुवे तथैतौ यूयमपि स्वीकुरुत।

भावार्थ—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा प्राणोदानौ प्रज्ञां रात्रिञ्च साध्नुतस्तथा विद्वांसः सर्वाण्युत्तमानि साधनानि गृहीत्वा कार्यसिद्धिं कुर्वन्तु।

पदार्थ—हे मनुष्यो! जैसे मैं (धियम्) बुद्धि तथा (घृताचीम्) शीतलतारूप जल को प्राप्त होने वाली रात्रि को (साधन्ता) सिद्ध करते हुए (पूतदक्षम्) शुद्ध बलयुक्त (मित्रम्) मित्र (च) और (रिशादसम्) दुष्ट हिंसक को मारने हारे (वरुणम्) धर्मात्मा जन को (हुवे) स्वीकार करता हूँ वैसे इनको तुम लोग भी स्वीकार करो।

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे प्राण और उदान बुद्धि और रात्रि को सिद्ध करते, वैसे विद्वान् लोग सब उत्तम साधनों का ग्रहण कर कार्यों को सिद्ध करें।

द.भा.

वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्

नाना-तर्कैर्वितर्कैर्विबुध-जनमतैर्भूषयल्लेखमालाः
शास्त्राणां दर्शनानां निगमपथजुषां ब्राह्मणानां बहूनाम्।
वाक्यैः सिद्धान्तनिष्ठैः समम् उपनिषदां तत्त्वमाधातुकामम्
वाग्ज्योतिर्वैदिकं तत् प्रसरतु भुवने ज्ञानविज्ञानदं नः॥1॥ (स्रग्धरा)

विद्वद्व्यूहविचारसारसहितं यत् प्राच्यविद्याऽऽश्रितम्
अज्ञानाऽन्धतमोनिवारणपरं सद्-बुद्धिशुद्धि-प्रदम्।
शोधोद्योगपरायणा बुधजना जानन्तु तद् दीपकम्
वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्॥2॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)

—प्रशस्यमित्रशास्त्रिणः

अनुक्रम

वैदिक वाक् *iii*

सम्पादकीय- वेद, विज्ञान और दर्शन *vii*

विज्ञान और दर्शन

1. **अथर्ववेद के कृषिविषयक मन्त्रों की विज्ञानपरक समीक्षा** 1
   —प्रो. कमलेशकुमार छ. चोकसी

2. **ब्रह्माण्ड में विभिन्न बलों का क्रियाविज्ञान - वैदिक एवं आधुनिक भौतिकी के संदर्भ में** 12
   —आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक

3. **भारतीय वाङ्मय का वैज्ञानिक पक्ष** 25
   —प्रमोद कुमार अग्रवाल

4. **ऊर्जा के अवशोषण एवं उत्सर्जन का वैदिक विज्ञान** 41
   —विशाल आर्य

5. **ऋग्वेद में अग्नि का वैज्ञानिक स्वरूप** 50
   —डॉ. भगवान दास जोशी

6. **Causal Genesis & Celestial Beings** 57
   - a study in Vedas Part - II
   - Acharya Siddhartha A. Bhargava &
   - Prof. Dinesh Chandra Shastri.

7. **In the beginning 3: One or many...** 80
   (In the Beginning - the start of Philosophy in the *Rigveda*)
   - Dr Nicholas Kazanas

8. **Yoga : A treatment technique for Anxiety** 93
   - Farha Naaz & Megha Taragi

प्रकीर्ण/विविध

9. **वेदों में पुनरुक्ति दोष विषयक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों का मत** 104
– प्रेम प्रकाश लाल
– प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

10. **यजुर्वेदीय ब्राह्मणों के सन्दर्भ में 'वाणी' का वेदत्व** 125
–डॉ. अपर्णा (धीर) खण्डेलवाल

11. **स्मृतिग्रंथों में प्रतिपादित धर्म एवं उसकी प्रासंगिकता** 131
–डॉ. मोनिका मिश्रा

12. **आधुनिक जीवन में क्रियायोग की प्रासंगिकता** 136
–डॉ. ऊधम सिंह, डॉ. ईश्वर भारद्वाज

13. **उपनिषदों में प्राणायाम का स्वरूप** 144
–डॉ. विजेन्द्र प्रकाश कपरूवान

14. **गुह्योपनिषत्सु गूढं मनोवैज्ञानिकं व्यक्तित्वविकासतन्त्रम्** 147
–डा. आर. गायत्रीमुरलीकृष्णः

15. **प्राच्यपाश्चात्यदृशा व्यक्तित्वचिन्तनम्** 155
–डॉ. देवदत्त सरोदे

16. **वैदिकवाङ्मये दार्शनिकतत्त्वानां समीक्षणम्** 171
–डॉ. शक्तिशरणः

17. **ऋग्वेद-वर्णित-राष्ट्र-समन्वित-भावोद्रेकाः** 179
–श्याम सुन्दर शर्मा

18. **Contribution of Great Thinker Yogi Sri Aurobindo** 192
–Prof. Shashi Tiwari (Retd.)

19. **योग और वेदान्त दर्शन में व्यक्तित्व की अवधारणा** 197
–डॉ. अंजू कुमारी

20. **पत्र एवं सम्मतियां**

✦✦✦

सम्पादकीय

वेद, विज्ञान और दर्शन

वैदिक परिप्रेक्ष्य में विज्ञान और दर्शन को आधार बनाकर तैयार किया गया "वैदिक वाग् ज्योति" का प्रस्तुत अंक पाठकों की सेवा में अर्पित करते हुए बहुत खुशी हो रही है। क्योंकि इस अंक की शोभा अनेक प्रतिष्ठित प्रबुद्ध विद्वानों ने अपने शोधनिबन्ध प्रेषित कर बढायी है। इन विद्वानों में प्रसिद्ध हैं–गुजरात के लब्धप्रतिष्ठ वैदिक विद्वान् डॉ. कमलेश चौकसी, ऐतेरेय ब्राह्मण के वैज्ञानिक भाष्यकार आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक, विज्ञानपरक भारतीय साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् श्री प्रमोद कुमार अग्रवाल, वैदिक साहित्य की विज्ञानधारा के युवा विद्वान् डॉ. सिद्धार्थ भार्गव और ग्रीक देश के निवासी एवं ऋग्वेद के दार्शनिक पक्ष को भारतीय दृष्टिकोण से विश्व के सामने आधुनिक तरीके से रखने वाले डॉ. निकोलस कजानस, राष्ट्रपति-सम्मान से सम्मानित वैदिक विदुषी डॉ. शशि तिवारी एवं डॉ. आर.गायत्री मुरलीकृष्ण आदि प्रमुख हैं। इसके साथ ही कुछ युवा रिसर्च स्कालर्स ने भी अपने शोधपरक निबन्ध हमें भेजे हैं, जिनमें डॉ. अपर्णा धीर और डॉ. देवदत्त सरोदे का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इन विद्वानों के निबन्ध शोध की गहराई लिए हुए हैं। इस अंक में प्रकाशित अन्य विद्वानों के निबन्ध भी शोध के मापदण्डों के आधार पर लिखे गये हैं। इन पर टिप्पणी न कर मैं विद्वानों के समक्ष वैदिक परिप्रेक्ष्य में उक्त विषय पर कुछ निवेदन करना उचित समझता हूँ। जिससे भविष्य में वेदों को आधार बनाकर आधुनिक विज्ञान पर शोध करने वालों को एक दिशा मिल सके।

वेदों में भौतिकी, रसायन तथा आज जिन्हें हम विज्ञान कहते हैं उन्हें ढूंढने की बात नई नहीं है। यह जिज्ञासा बहुत पुराने समय से चली आ रही है। फिर भी प्रश्न यह है कि हम वेदों में विज्ञान की खोज करके क्या पायेंगे, हमारे हाथ क्या लगेगा? वेदों में विज्ञान को ढूंढता-ढूंढता नारद हार गया, हम लोग भी वेदों में विज्ञान ढूंढने के लिए परेशान रहते हैं, परन्तु वेदों में भौतिकवादी विज्ञान को पाकर हम क्या करेंगे? वेदों में तो आत्मज्ञान है जिसे पाकर साधक अमर हो जाता है।

अगर वेदों में आज का-सा विज्ञान नहीं है तो हमारा क्या बिगडता है, इस संहारकारी विज्ञान को तो यूरोप वाले भी छोडते चले जा रहे हैं, हमारी खोज आत्म-ज्ञान की है जिससे मानव को शान्ति मिल सकती है। नारद भी सनत्कुमार

ऋषि के चरणों में बैठकर इसी भाषा में बोल रहा था। इसीलिए हम कहते हैं कि वेद मुख्य रूप से आध्यात्मिक-ग्रन्थ हैं, भौतिक बातों का जहां-तहां वर्णन उनमें जरूर पाया जाता है, परन्तु वह कभी-कभी आध्यात्मिक को समझने-समझाने के लिए या उदाहरण या रूपक के लिए किया गया है। अध्यात्म-शास्त्र ही नित्य है, सनातन है, भौतिक-विज्ञान तो खोजने की वस्तु है, वह मनुष्य स्वयं खोज सकता है; आध्यात्मिक-ज्ञान खोजने की नहीं, देने तथा पाने की वस्तु है, वह भगवान् मानव को देता है। इसीलिए कहा गया है कि वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है क्योंकि भौतिक ज्ञान परिवर्तनशील होने के कारण वेद की परिभाषा में सत्य-ज्ञान की कोटि में नहीं आता।

तो क्या वेद में विज्ञान नहीं है? हमारा उत्तर है- वेद में विज्ञान है, और अवश्य है, परन्तु ऐसा विज्ञान जो नित्य है, अखण्ड है, अद्वय, जो 'सदा+अवृध' है, जो नित-नित बदलता नहीं है (ऋ. 8.18.6)। जो विज्ञान बदलता रहता है, वह वेद की परिभाषा में 'अविद्या' है "सदावृध"-"सदा-वर्धमान" है। "सदावृध"—सदा वर्धमान-ज्ञान मनुष्य के हाथ में है; "सदा+अवृध"—सदा एक रहने वाला ज्ञान—भगवान् द्वारा वेद के रूप में मानव को दिया जाता है।

जो ज्ञान सदा गवेषणा का विषय रहता है, आज यह और कल वह, जिसे आज की परिभाषा में हम 'विज्ञान' कहते हैं—रेल, तार, टेलीविजन, टेलीफोन, हवाई जहाज, दवा-दारू आदि—यह काम आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थवेद नाम से लोकविश्रुत उपवेदों के साथ-साथ ब्राह्मणग्रन्थ, सूत्र एवं वेदांगसाहित्य आदि का है, वेदों में अगर कहीं इनका जिक्र आया है तो आध्यात्मिक विषय को समझाने के लिए उदाहरण या रूपक के तौर पर इनका उपयोग हुआ है,परन्तु वेद का मुख्य विषय अमर, सत्य-ज्ञान का प्रकाश करना है।

जब हम कहते हैं कि वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है, तब हमारा अभिप्राय क्या होता है? इससे क्या हमारा यह अभिप्राय होता है कि वेद में फिजिक्स, कैमिस्ट्री आदि सब-कुछ है, क्या रेल, हवाई जहाज, तार, टेलिफोन, टेलीविजन आदि बनाना सब सत्य विद्याएं वेद में हैं। इस प्रश्न पर विचार करते हुए हमें दो-तीन बातों पर विचार करना होगा। हमें इस बात का उत्तर देना होगा कि अगर वेद में फिजिक्स, कैमिस्ट्री, रेल, तार, हवाई जहाज आदि सब-कुछ है,तो भगवान् ने मनुष्य को अपने मस्तिष्क से सोचने-समझने, खोजने के लिए कुछ-भी नहीं छोडा; हमें इस बात का भी उत्तर देना होगा कि सब भौतिक-आविष्कार उन लोगों ने कैसे किये जो वेद का एक अक्षर भी नहीं जानते थे। इन सब आपत्तियों का हमारे पास क्या जवाब

है? वास्तविक स्थिति यह है कि वेदों में भौतिक-विद्याओं का बीज तो है जैसा कि स्वामी दयानन्द ने भी इंगित किया है, परन्तु उसे पुष्पित तथा फलित या क्रियात्मक रूप देने के लिए उपवेदादि अन्य वेद सम्बन्धी साहित्य की रचना की गयी है। उपवेदों का निर्माण इसीलिए हुआ ताकि वेदों में जिन भौतिक विद्याओं का बीज था, परन्तु उसकी प्रधानता न थी, इन उपवेद आदि द्वारा उनका विशदीकरण किया जाये।

हमारा कथन यह नहीं है कि वेद में वैज्ञानिक बातें नहीं हैं। हमारा कथन सिर्फ इतना है कि वेद में जो वैज्ञानिक बात कही गयी है वह उदाहरण या उपमा या रूपक के रूप में कही गयी है। जैसे, यजुर्वेद के 23वें अध्याय में यज्ञ का वर्णन करते हुए कहा है-**'पृच्छामि त्वा परमन्तः पृथिव्याः'**- मैं पूछता हूं कि पृथ्वी का परम छोर क्या है? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है-**'इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः'**-यह वेदी जहां हम यज्ञ कर रहे हैं पृथ्वी का परला सिरा है। इसका अर्थ हुआ कि पृथ्वी गोल है जिसे सिद्ध करने के लिए गैललियो को जेल जाना पडा था। प्रत्येक गोल वस्तु का आदि तथा अन्त एक ही स्थल होता है, परन्तु यह कथन यज्ञ के विषय में उदाहरण या उपमा के रूप में कहा गया है। ऋग्वेद 5.52.9 में मरुतों (सैनिकों) को मद्गु पक्षी से उपमा दी गयी है। सैनिकों को मद्गु पक्षी से उपमा देकर कहा गया है कि वे बडी-बडी कुटिलगामिनी नदियों में पानी के भीतर छिपे रहते हैं। मरुतों के इस वर्णन से यह स्पष्ट सूचित होता है कि सेनाधिकारियों को ऐसी नौकाएं भी बनानी चाहिए जो मद्गु पक्षी की भांति जल के भीतर-ही-भीतर चल सकें और उसके द्वारा सेनाएं जल के भीतर-ही-भीतर एक स्थान से दूसरे स्थान जा सकें। ऋग्वेद 1.163.6 मन्त्र में कहा है, "हे विचित्र अश्व, मैं इस पृथिवी से उठकर आकाश-मार्ग से उडते हुए तुम्हारे पक्षी रूप शरीर को मन से जानता हूं"। यहां विचित्र अश्व के शरीर को पक्षीरूप कहा गया है।हमारी दृष्टि में यह विचित्र अश्व और कुछ नहीं, विमान है। विमान ही पक्षी की तरह उड़ सकता है। यह बात मन से विचारने से-अध्ययन करने से-समझ में आ जाती है। वेद की भाषा (मन से जानता हूँ) का यही तत्पर्य है। आजकल जो विमान बन रहे हैं, उनके इतिहास को पढने से पता चलता है कि इस दिशा में आरम्भ काल में अन्वेषण करने वाले लोगों ने पहले-पहल पक्षियों के आकाश में उडने और उनके पंखों की बनावट का बडी बारीकी से अध्ययन किया था।इसी तरह अथर्ववेद 10.33 एक लम्बा ब्रह्म की प्रशंसापरक सूक्त है जिसमें प्रश्नात्मक शैली में मनुष्य के सिर से लेकर पैरों तक शरीर के मुख्य-मुख्य सब अंगों और प्रत्यंगों का नाम लेकर पूछा गया है कि मनुष्य शरीर में ये अंग किसने बनाये।प्रश्न का उत्तर स्थूल रूप में तो पाठक पर ही छोड

दिया गया है कि वह स्वयं विचार करके प्रश्न का उत्तर खोजे और विचार करके खोजने पर वह इसका उत्तर पाएगा कि विश्व के रचयिता परमात्मा ने ही उक्त अंगों की रचना की है। इस प्रकार से इस सूक्त में शरीर के अंग-प्रत्यंगों को गिनाकर संक्षेप में शरीर-रचना विज्ञान या अनाटमी (Anatomy) का वर्णन कर दिया गया है।इसी सूक्त के 11वें मन्त्र में शरीर में प्रवाहित होते रहने वाले रक्तप्रवाह-चक्र (Circulatory system of Blood)का भी वर्णन किया गया है। कहा जाता है कि ईसा की 17वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के डाक्टर हार्वे ने सबसे पहले शरीर के इस रक्तप्रवाहचक्र की खोज की थी। परन्तु पाठक देखेंगे कि वेद में इसका वर्णन बहुत पहले से विद्यमान है। इस प्रकार हमारा कथन है कि वैज्ञानिक या भौतिक तथ्यों को परमात्मा की तरफ से बतलाने की जरूरत ही नहीं, उनका आविष्कार करने के लिए भगवान् ने मनुष्य को बुद्धि दी है। ईश्वरीय-ज्ञान अर्थात् आध्यात्मिक-तथ्यों को वेद द्वारा दिया गया है। आध्यात्मिक-विद्या ही सत्य विद्या है, वही अद्वय है, वही अदिति है, वही अवर्धमान है, वही विद्या है, भौतिक-विद्या को वेद ने "सदावृध"-सदा बढने वाली विद्या कहते हुए भी "अविद्या" कहा है। भौतिक-विद्या को अविद्या कहते हुए भी जीवन के लिए उपयोगी होने के कारण उसे भी वेद ने सम्मान का स्थान देते हुए कहा है-**'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा'**- अविद्या से मृत्यु को तो तरा ही जा सकता है, परन्तु अमरत्व तो अध्यात्म से ही प्राप्त होता है। इसका अभिप्राय यह है कि भौतिक-विज्ञान या भौतिकवाद से मनुष्य को भौतिक लाभ तो हो सकता है, आध्यात्मिक लाभ नहीं। मानवीय-ज्ञान को वेद ने 'अविद्या' का नाम इसीलिए दिया है। यह वेद की अपनी Terminology अर्थात् शब्दावली है। इसी प्रकार वेदों की रूपक या उपमापरक बातों से ही दर्शन का उद्गम दिखाई देता है। जैसे कि दिन में तारे क्यों नहीं दिखाई देते? मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ, मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है? यह संसार क्या है? इस संसार से मनुष्य का छुटकारा कैसे हो सकता है? यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई? इस सृष्टि का स्रष्टा कौन है? ये और इस प्रकार के न जाने कितने प्रश्न उसके हृदय और मस्तिष्क में चक्कर काटते रहे। तत्वदर्शियों के मत में मनुष्य को इन विषयों का तत्वज्ञान हो सकता है। इसी तत्वज्ञान को संसार के मनीषियों ने 'दर्शन' की संज्ञा प्रदान की है। इस दर्शन को और विज्ञान को वैदिक दृष्टि से पाठकों के समक्ष रखना ही प्रस्तुत अंक का उद्देश्य है। इतना लिखने के बाद अब हमें उक्त विषय से सम्बद्ध वैदिक साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् एवं आधुनिक विज्ञान के तत्ववेत्ता स्व.स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती की अंग्रेजी में लिखित यहाँ अत्यन्त सामयिक कुछ पंक्तियों का उल्लेख करना उचित समझता हूँ, जो कि इस प्रकार हैं-

"There is no end to knowledge. From the day, the First man was born, the inquisitiveness was inherent in him. He started posing problems (some of the most fundamental problems have been posed in the Vedic Saṁhitas themselves). Like a child philosopher, man is even today inquistive- the more he would know, the more inquisitive he would be. The great scientist only knows the real meaning of the Creator being *Omniscient;* it is only a scientist that can be a real theist. This is why Dayananda, the founder of the Arya Samaj, welcomed the advancement of modern sciences, which he declared as something not entirely new to Indian people. Scientific traditions suit to the Indian genius the most. Science stands for the Vedanta as an aid to the study of the Veda. Just as in thermodynamics, we speak of the *Unattainability of the Absolute Zero*, so is the Vedic concept of the *Unattainability of the Ultimate Limit of Knowledge*; it can be only asymptotically approached. There is no end to knowledge; there is no end to the inquistiveness. The realization of this truth is the realization of the true theism.

Dayananda sees no contradiction between the *Veda* and *Science* and hence there could never be a conflict between science and religion or science and philosophy. Religion is merely the application of the notions experienced or observed through the disciplines of science and philosophy for the betterment of our life here or after. Our Creator has revealed himself in His *Creation* and in His *Word* too; and therefore, according to Dayandnda, there could be no conflict between the revelated knowledge and the scientific understanding. It is a theistic notion that there could be no end to the range of inquiry: one inquiry would always lead to a series of inquiries, and there shall be no finality of an answer. The inquiry would always lead to deeper and deeper and more extensive vistas.

Perhaps no other teacher in the field of theology has exhorted people to the study of science and technology as Dayananda in his writings. To him, the *yajna* is not merly putting oblations in fire, *yajna* means all the activities associated with scientific knowledge--our laboratories, observatiories, our large-scale factories, our industry, and in fact everything that goes to increase our knowledge, our production, and all that contributes to human prosperity and happiness. Dayananda himself was not a scientist, nor he claimed himself to be, but he had the vision to see that future prosperity of man depends on science and technology. Whilst commenting on the Vedic verses, he fervently pleaded

for developing aeronautics, shipbuilding, use of *electricity* for various purposes and for exploiting natural resources for peace and defence both. It is a historical fact that in India, thousands of years ago, the thinkers, the seers and sages, sitting round the sacred fire, developed the sciences of medicine, chemistry, astronomy, geometry, prosody and grammer; the *yajnashalas* had been our open air laboratories and observatories for the development of several sciencess."

उपरोक्त समस्त कथन का आशय है कि वेदों में समस्त विज्ञानों के बीज होते हुए भी आत्म दर्शन हेतु उपदेश दिया गया है। जिसे हम विज्ञान कहते हैं, वह प्रकृति के गुप्त रहस्यों का उद्‌घाटन है। प्रकृति के अनेक रहस्यों का अन्वेषण किया जा चुका है, परन्तु अनगिनत रहस्य अभी भी शेष हैं जो सम्भवत: सृष्टि के प्रलय तक सभी अन्वेषित नहीं हो पायेंगे। इनका अन्वेषण तो जिज्ञासुओं को आत्मिक ज्ञान होने पर ही सम्भव हो सकेगा। इसी सम्बन्ध में सन् 1921 में नोबल पुरस्कार से सम्मानित विश्व के महानतम वैज्ञानिक आइंस्टाइन से जब उनके अन्तिम समय में पूछा गया कि यदि पुनर्जन्म सम्भव है तो आप अगले जन्म में क्या बनना चाहेंगे? आइंस्टाइन ने उत्तर दिया कि कुछ भी बनूं, पर वैज्ञानिक नहीं बनना चाहता। इसका कारण उन्होंने बताया कि मैंने अनेक वैज्ञानिक तथ्यों व सत्यों की खोज में अपना पूरा जीवन ही व्यतीत कर दिया, अब मैं जीवन के अन्तिम पड़ाव पर खाली हाथ ही जा रहा हूँ, मैं वह तत्व नहीं खोज सका जिसने मुझे आइंस्टाइन बनाया। यदि मेरा जन्म हुआ तो प्रभु से मेरी प्रार्थना रहेगी कि मैं आत्मदर्शी, आत्म अन्वेषक सन्त बनूं जिससे जीवन तथा उस परम शक्ति के तथ्यों से आत्म-साक्षात्कार करने में सफलता प्राप्त करूँ।

–प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (1-11) January-June 2019 ISSN 2277-4351

अथर्ववेद के कृषिविषयक मन्त्रों की विज्ञानपरक समीक्षा

प्रो. कमलेशकुमार छ. चोकसी

निदेशक, भाषासाहित्यभवन, गुजरात युनिवर्सिटी तथा
प्रोफेसर-अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, भाषासाहित्यभवन,
गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद-380009 (गुजरात)

भूमिका -

सामान्यरूप से जनमानस में ऐसी मान्यता प्रवर्तित हो रही है कि वेद में तो प्रायः विधि-निषेधात्मक मन्त्रों का प्रवचन है। और कहीं कहीं प्रार्थनारूप से कुछ मन्त्र आते हैं। वस्तुतः यह मान्यता ठीक है, पुनरपि यह निवेदन करना है कि इस विधि-निषेधात्मक प्रवचन में तथा प्रार्थनारूप मन्त्रों में मानव के द्वारा करने योग्य पुरुषार्थ अर्थात् करणीय कर्मों की दिशा का निरूपण है।[1] इस दृष्टि से देखा जाय, तो वैदिक मन्त्रों में जो प्रार्थनाएँ की गई हैं, उन में त्रिविध विशेषताएँ हैं।

एक ओर तथ्य भी इस संदर्भ में ध्यातव्य है। वह यह है कि वैदिक मन्त्रों में जो प्रार्थनाएँ की गई हैं, उन में कुछ विशेषता भी है। ये विशेषताएँ त्रिविध हैं। तद्यथा -

1. प्रार्थना के शब्दों में पुरुषार्थ की दिशा सूचित होती है।

2. सभी प्रार्थनाएँ साकार तथा सफल हो सकें, ऐसी हैं। अर्थात् प्रत्येक प्रार्थना में व्यक्त किया गया भाव सम्भावना लिये हुए है। ऐसा नहीं है कि प्रार्थनात्मक विषयवस्तु में कुछ अशक्य हो।

---

1. हमारी भारतीय प्राचीन सामाजिक परम्परा में यह वेदोक्त कर्म है, ऐसा मानकर आस्तिक लोग उस कर्म को ईश्वर की आज्ञा के रूप में स्वीकार करते रहे हैं। इसलिये वे सभी वेदोक्त कर्मों को वैसे ही करते रहे हैं, जैसे करने के लिये वेद में उस कर्म की दिशा तथा दशा उपदिष्ट है। अथ च इस प्रकार के कर्म की ठीक प्रकार से सिद्धि करने के लिये अपने अपने आत्मा में विनम्रता बनी रहे, इस सदिच्छा से यथावसर प्रार्थना भी करते रहे हैं। पुरातन काल से आज तक वैदिकों में इस प्रकार का व्यवहार प्रवर्तित हो रहा है।

3. प्रार्थना के माध्यम से उस उस कर्म को मानव अपनी वंशपरम्परा में प्रवर्तित रख सकता है। इन प्रार्थनाओं को प्रतिदिन का कार्य बना कर अपने वंश में उत्पन्न होने वाले सन्तानों की दिनचर्या का अंग बना दिया जाता है। इससे ये प्रार्थनाएँ तथा उनमें सूचित दिशा संतानों के लिये सुरक्षित तथा संरक्षित बन जाती हैं। इसलिये परिवार में जन्म लेने वाले नये नये सदस्य प्रवर्तमान जनों के कर्म का स्वाभाविक रूप से अनुसरण करने लगते हैं।[1] जब पूर्वजों के समान कर्म किये जाते हैं, तो फल भी उन्हीं पूर्वजों के जैसा ही प्राप्त होता है। समान फल के भागी भी बनते हैं।

इस स्थिति में वेद के इन विधि-निषेधात्मक उपदेशरूप तथा प्रार्थनारूप मन्त्रों का पदार्थ करके अर्थघटन करना एक बात है और सतह में जाकर पदों की संयोजना में छिपे हुए अर्थ को उजागर करना दूसरी बात है। प्रथम बात वेदमन्त्र को एकमात्र धर्मवचन के रूप में प्रस्तुत करती है। जब कि दूसरी बात वेदमन्त्र को विज्ञान के सूत्र के रूप में प्रस्तुत करती है। हमने प्रस्तुत लेख में अथर्ववेद से कुछ मन्त्र लिये हैं, जिनमें कृषि से संबद्ध कुछ बातें कहीं गई हैं। इनके आधार पर वेदोपदिष्ट कृषिकर्म के सिद्धान्तों को तथा परंपरागत वैदिक कृषिविज्ञान को आकारित करने का इस शोधालेख में उपक्रम रखा गया है।

(1.) अथर्ववेद (6.30.1) में एक मन्त्र है -

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः।
इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः॥

इस मन्त्र का सायणाचार्य के द्वारा जो अर्थघटन प्रस्तुत किया गया है, तदनुसार इस मन्त्र में सरस्वती नदी के पास में मणौ अर्थात् मनुष्यजाति में देवताओं के द्वारा किये गये कृषि कर्म का वर्णन है। सायणाचार्य का मानना है कि इस कृषि कर्म में धान्य को उत्पन्न करने के लिये शतक्रतु इन्द्र सीरपति अर्थात् हल के अधिष्ठाता स्वामी रहे थे। साथ ही सुदानव अर्थात् शोभन है दान जिनका वे मरुत कीनाश अर्थात् कर्षक थे।[2]

---

1. अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः। (अथर्ववेदः 3.30.2) - यह मन्त्र इस संदर्भ में स्मर्तव्य है।
2. सायणभाष्यम्- (मधुना) मधुररसेन क्षौद्रेण वा संजितम् संप्राप्तम् यवम् दीर्घशूकम् इमम् धान्यविशेषं सरस्वत्यामधि सरस्वत्याख्याया नद्याः समीपे मणौ मनुष्यजातौ देवाः अचर्कृषुः कृतवन्तः। तदानीं कर्षणेन भूमौ तद् धान्यम् उत्पादयितुं शतक्रतुः इन्द्रः सीरपतिः हलस्याधिष्ठाता स्वामी आसीत्। सुदानवः शौभनदाना मरुतः कीनाशाः कर्षकाः आसन्।। - (अथर्ववेदसंहिता (श्रीमत्सायणाचार्यविरचित-माधवीयवेदार्थप्रकाशसहिता) संपादक- शंकर पाण्डुरंग पंडित, प्रकाशक- कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, सन् 1989, द्वितीयो भागः) पृ. 60

उपर्युक्त मन्त्रार्थ में सरस्वती शब्द को सरस्वती नामक नदी का तथा मणि शब्द को मनुष्य जाति का वाचक माना गया है। साथ ही कृषि कर्म में इन्द्र जो कि देव स्वरूप हैं, को अधिष्ठाता बताया गया है।

इधर पं. जयदेव शर्मा ने इस मन्त्र का हिन्दी अनुवाद करते हुए कहा है-

(देवाः) विद्वान् लोग (इमम्) इस (यवम्) जौ धान्य को जिस प्रकार (सरस्वत्याम्) नदी के तट पर (मणौ) उत्तम भूमि में (अचर्कृषुः) हल जोत कर बोते हैं, उसी प्रकार (देवाः) विद्वान् शासक लोग (मधुना) उत्तम धन समृद्धि से (संयुतम्) सम्पन्न (यवम्) इस राष्ट्र को (सरस्वत्यां मणौ) सरस्वती- सत्यवाणी धर्म-पुस्तक (कोडबुक) के आधार पर (अचर्कृषुः) चलाते हैं। इस राष्ट्ररूपी खेती में (सीरपतिः) हल का स्वामी (इन्द्रः आसीत्) राजा होता है जो (शतक्रतुः) सैंकडों सामर्थ्यों से युक्त होता है और (सुदानवः) उत्तम दानशील (मरुतः) प्रजागण (कीनाशाः) किसानों के समान (आसन्) होते हैं।[1]

यहाँ उन्होंने लुप्तोपमालंकार मान कर राजकार्य को कृषिकार्य के समान बताया है। यह तुलना अपने आप में कई संदर्भ में सटीक ठहरती है। राजकार्य यदि कृषि है, तो राजा को यह स्वीकार करना पडेगा कि प्रजा के पास से आने वाला कर कृषिकर्म की तरह आकाशवृत्ति होगा। कभी कम तो कभी ज्यादा। इस स्थिति में कृषक जिस प्रकार से कम उपज के होने पर भी अपना जीवनव्यवहार चलाता है, राजा को भी अपना राजकार्य चलाते रहना होगा। अस्तु।

पं. सातवलेकर जी ने इस मन्त्र का बहुत ही सुन्दर तथा प्रतीतिकारक अर्थघटन किया है, जो इस प्रकार है- (सरस्वत्याम्) पानी के प्रवाह से युक्त[2] (मणौ अधि) उत्तम भूमि में (इमम्) इस (मधुना संयुतं यवम्) मीठे जौ अथवा चावलों की (देवाः) देवों ने (अचर्कृषुः) खेती की, उस समय (शतक्रतुः) सैंकडों कर्म करनेवाला (इन्द्रः) इन्द्र, देवों का राजा (सीरपतिः आसीत्) हल का रक्षक था और (सुदानवः मरुतः) उत्तम दाता मरुद्गण देव (कीनाशाः आसन्) किसान थे।[3]

---

1. (अथर्ववेद-संहिता, भाषाभाष्य (द्वितीय खण्ड), भाष्यकार - पं. जयदेव शर्मा, प्रकाशक- आर्य साहित्य मंडल, अजमेर, पंचमावृत्ति, सन् - 1976) पृ. 33-34
2. सरस्वती शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से भी विचारी जाती है - सरतीति सरः जलम्, तद्वती सरस्वती। अर्थात् जल वाली कोई जगह।
3. वेदामृत, पृ. 372 (संपादक- स्वामी वेदानन्द, प्रकाशक - जनज्ञान प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2029)

0.0.0. मन्त्रार्थ में निहित कृषि विज्ञान

पं. सातवलेकर जी ने जो मन्त्रार्थ किया है, उस में पूर्ववत् ही कृषिकर्म की बात केन्द्र में है। पर, इस कृषिकर्म के कर्ता के रूप में देव को माना गया है। पुनः इन देवों में इन्द्र को सीरपति अर्थात् हल के स्वामी तथा मरुत को कीनाश अर्थात् कृषिकर्म को करने वाले- माना गया है। इस दृष्टि से विचार किया जाय, तो यह कृषिकर्म मानवीय कर्म न रह कर देव कर्म का रूप ले लेता है। अतः इस मन्त्र में देवताओं के द्वारा किये जाने वाले कृषिकर्म का वर्णन है, मानवीय कृषि कर्म का नहीं, ऐसा तात्पर्य कोई निकाल सकता है। पर, इस वर्णन के लिये प्रयुक्त पदावलि के अन्तस्तल में छिपे हुए अर्थ को समझ लेने पर वेदानुसारी कृषिविज्ञान के कई सिद्धान्त हमारे समक्ष प्रकट होने लगते हैं।

तद्यथा -

(क.) कृषि योग्य भूमि कैसी हो, इस का उत्तर देते हुए कहा गया है कि- कृषिकर्म के लिये भूमि मणि अर्थात् उत्तम होनी चाहिये।

यहाँ पर भूमि की उत्तमता को प्रदर्शित करने के लिये जिस मणि शब्द का प्रयोग किया गया है। मणि प्रकाश का कारक पदार्थ है। संस्कृत साहित्य में मणिदीप की परिकल्पना प्रसिद्ध है।[1] उसे जितनी बार भी प्रकाश के फैलाने के काम में लिया जाता है, उतनी बार वह समानरूप से उपयोगी बनता है। लम्बा समय बीतने के पश्चात् भी उसके कारकत्व में कोई कमी नहीं आती है। वेद का मानना है कि कृषि के लिये उपयोग में ली जाने वाली भूमि भी मणि के समान होनी चाहिये।

कृषि के लिये वेद के द्वारा जिस भमि की संकल्पना प्रस्तुत की गई है, उस में मानवीय कर्तव्य की दिशा का भी उपदेश दे दिया गया है। वेद का कहना है कि किसी भूमिखण्ड को कोई किसान जब से कृषि कार्य के लिये उपयोग में लेने लगे, तब से लेकर उत्तरोत्तर वह भूमिखण्ड वैसा का वैसा ही उपयोगी बना रहना चाहिये। अर्थात् ऐसा न हो कि उपयोग के प्रारंभिक काल में भूमि बहुत अधिक उपयोगी हो, पर उत्तरोत्तर वह अपनी उपयोगिता समाप्त करती चले। किसान को कृषि के लिये उपयोग में ली जाने वाली भूमि के संदर्भ में इस प्रकार की प्रक्रिया करनी है कि अनन्त वर्षों तक वह भूमि कृषि के लिये एक समान रूप से उपयोगी बनी रहे, यह किसान का कर्तव्य है।

---

1. कवि मयंख का पद्य है- नो शक्य एव परिहृत्य दृढाम् परीक्षाम् ज्ञातुं मितस्य महतश्च कवेर्विशेषः। को नाम तीव्रपवनागमनमन्तरेण तत्त्वेन वेत्ति शिखिदीप-मणिप्रदीपौ।। - परंपरा में प्रचलित तथा संगृहीत।

इस कर्तव्य को निभाने के लिये 1. एक तो जिस भूमि पर उस प्रकार के खाद आदि के प्रयोग को टालना होगा, जो दो-चार वर्ष तक अच्छी फसल देते हैं, और बाद में उस भूमि को बेकार बना देते हैं। इस प्रकार का कृषि के लिये किया जाने वाला भूमि का उपयोग वेद को मान्य नहीं है।

(2) कृषिकर्म का प्रथम सोपान भूमि का विलेखन है। इस में यदि बैल के द्वारा हल को जोत कर खेत का विलेखन किया जाता है, तो वह भूमि मणि की तरह सर्वदा एक जैसी रहती है। क्यों कि इस प्रकार से विलेखन से कृषिकर्म में अपेक्षित भूमि का एक निश्चित स्तर ही उपयोग में आता है। इस निश्चित स्तर में खाद पानी की अपेक्षा रहती है। भूमि का यह उपरि भाग होता है। भूमि के नीचे के भाग से तो कोई मतलब नहीं होता, वह तो वैसे का वैसा ही बना रहता है। यही भूमि का मणित्व है।

आज कल चल रहे कृषि कर्म में ट्रेक्टर से भूमि का विलेखन किया जाता है। यान से जब भूमि का विलेखन किया जाता है, तब कहीं कहीं नियत स्तर से आगे का स्तर भी विलेखन का भागी बन जाता है। इस से भी भूमि का सर्वदा एक जैसा स्वरूप अर्थात् मणित्व सुरक्षित नहीं रहता है। वेद इस प्रकार से कृषिकर्म के पक्षधर नहीं है।

(3) एक अन्य तथ्य की ओर भी हमारा ध्यान जाना चाहिये। मणि तो वस्तुतः एक प्रस्तर ही है। वह पृथिवी पर उपलभ्यमान उत्तम पदार्थों में से एक है। इसी प्रकार पृथिवी पर यद्यपि बहुत से भूमिखण्ड कृषिकर्म के लिये समुपलब्ध हैं, पर उन में वही भूमिखण्ड कृषि के लिये पसंद करना है कि जो मणितुल्य अर्थात् उत्तमोत्तम हो। ऐसे उत्तमोत्तम मणि रूप भूमि में ही कृषिकर्म करना है, अन्यत्र नहीं, यह बात भी इस मन्त्र से सूचित होती है।[1]

इस सूचना के अनुसार अब मानव को कृषि के लिये कौन सी भूमि उत्तम है, इसका पता लगाना होता है। और जब एक बार पता चल जाय, तब उस भूमि को सदैव कृषिकर्म के लिये उपयोग में लाना है। ऐसा न हो कि कृषिकर्म के लिये

---

1. इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा। तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम्।। अथर्ववेद 6.21.1 इस वेद मन्त्र में भी कृषि के लिये उत्तम भूमि के वरण की बात की गई है। (द्रष्टव्य, इस मन्त्र का सायणभाष्य, जो इस प्रकार है- तासां पृथिव्युपलक्षितानां लोकानां मध्ये इयम् अस्माभिः अधिष्ठिता भूमिः खलु उत्तमा उत्कृष्टतमा ऐहिकफलभोग-निमित्तत्वात् स्वर्गादिफलसाधनयागहोमाद्यनुष्ठानहेतुत्वाच्च। तासां पृथिवीनां त्वचः त्वगिव उपरिवर्तमाना या भूमिः तस्या अधि उपरि प्ररूढं भेषजम् व्याधिनिवर्तकम् औषधम् अहं समु जग्रभम् संगृह्णामि। - पृ. 42 सायणभाष्यम् (द्वितीयः भागः)।

उत्तमोत्तम भूमि को स्वार्थवशात् नगरादि बसाने के लिये या अन्य किसी कार्य (जैसे कि ईंट आदि बनाने) के लिये उपयोगी मान कर कृषि कार्य से उस भूमि को बेदखल कर दिया जाय। आज कल यही हो रहा है।

वैदिक दर्शन है कि उत्तम भूमि उत्तम अन्न देगी। इस उत्तम अन्न से एक ओर ऐहिक सुखों की प्राप्ति होगी, तो दूसरी और स्वर्गादि की प्राप्ति फल की प्राप्ति के साधनरूप याग-होम आदि के अनुष्ठान का अवसर भी प्राप्त होगा। इस प्रकार कृषि के कार्य के लिये रखी गई उत्तम भूमि इहलोक तथा परलोक का कारण बनेगी। जब कि ऐसी उत्तमोत्तम भूमि पर कृषिकर्म न करके नगरादि की स्थापना से ऐहिक फल के रूप में भोग भले ही प्राप्त हों, पर पारलौकिक सुख की प्राप्ति के साधनरूप धर्म कार्य का विराम हो जायेगा। आज ऐसा ही हो रहा है।

(ख) कृषि कर्म के लिये भूमि को पसंद करने के लिये एक दूसरी बात भी ध्यातव्य है। वह है- जलप्रवाह से युक्त भूमि। वेद का उपदेश है कि जिस भूमि के पास में जल प्रवाह है, उस भूमि पर कृषिकर्म किया जाना चाहिये।

वेद ने इस तथ्य को प्रस्तुत करने के लिये सरस्वती शब्द का प्रयोग किया है। सरस् जलवाचक शब्द है। उसकी जिस प्रकार से व्यत्पत्ति विचारी गई है, उस प्रकार से सरतीति यत् तत् सरः अर्थात् जो सरने वाले है, वह जल सरस् है, ऐसा अर्थबोध होता है। इस प्रकार की सरस् वाली भूमि को सरस्वती कहा जा सकता है। यह तलाव या नदी के रूप में द्विविध है। इन दोनों स्थानों में आकाश से गिर कर बहता हुआ पानी एकत्र होता है और आगे बहता रहता है। जल की इस प्रकार से जहाँ प्राप्ति संभवित हो, उसी भूमि को कृषि के लिये पसंद करने का उपदेश वेद देते हैं।

(ग) कृषिकार्य में बीज की भी बृहती भूमिका होती है। इसलिये यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि बोये जाने वाले बीज कैसे हों? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए वेद मन्त्र में कहा है- मधुना संयुतस्य यवस्य अर्थात्- मधु से संयुक्त यव-बीज से खेती करनी है।[1]

वेद का यह वचन भी रहस्यात्मक है। यवादि बीज को मधु अर्थात् शहद से संयुक्त करने के पश्चात् इसे बोने के कार्य में लाना है। वेद के इस कथन में प्रयुक्त

---

1. बीजकालेषु संबन्धाद्यथा लाक्षारसादयः। वर्णादिपरिणामेन फलानामुपकुर्वते।। वाक्यपदीयम् - 2.185 इस कारिका में भर्तृहरि ने स्पष्टतया बीज को लाक्षादि रस से युक्त करने पर फल में उपकार होने की बात कही है। इस कथन में जो वैज्ञानिकता है, उसका स्रोत वेद का यह वचन क्यों न माना जाय?

मधु शब्द एक ओर तो शहद नामक पदार्थ विशेष का वाचक है, तो दूसरी ओर अविनाशपूर्वक प्राप्त होने वाले पदार्थसामान्य का भी प्रतीक है।[1]

पदार्थ की प्राप्त के उपाय द्विविध हैं। एक तो विनाशपूर्वक तथा दूसरा अविनाशपूर्वक। एक पदार्थ का विनाश होने पर दूसरे पदार्थ की प्राप्ति होना एक बात है। जब कि अस्तित्व रखने वाले पदार्थ को किसी प्रकार से विनष्ट न करते हुए दूसरे पदार्थ की प्राप्ति होना दूसरी बात है।

प्रथम बात के संदर्भ में मधुना संयुतम् का आशय है- बीज मधु नामक माधुर्ययुक्त पदार्थ विशेष का पुट देकर बोने चाहिये। (वैज्ञानिकों को इसकी प्रयोगात्मक परीक्षा करनी चाहिये।) इससे उत्पन्न होने वाले अन्न में अतिरिक्त माधुर्य का गुण आ जाता है।

वेद में वर्णित परंपरागत विज्ञान के अनुसार यदि बोने योग्य बीज को, मधु तथा तत्सदृश अन्यान्य प्रवाहिपदार्थों के सहयोग से संस्कृत करके यदि बोये जाते हैं, तो कृषिकर्म में महान् लाभ होता है। एक तो जिस पदार्थ को बीज से संयुक्त किया गया होता है, उस पदार्थ के गुण भी बीज में प्रविष्ट हो जाते हैं। जैसे कि मधु (शहद) सर्वदा मधुर होता है। इस मधु से संयुक्त यव भी मधुमय हो जाते हैं। इस प्रकार की कोई प्रक्रिया आज प्रत्यक्षीभूत न हो तो भी इस सूचना में किसी संभावना की सूचना तो प्राप्त होती ही है, जिसे हम परंपरागत विज्ञान मान सकते हैं।[2]

दूसरे अर्थघटन के संदर्भ में मधु से संयुक्त यव का आशय उत्पन्न किये गये अन्न के कणों में उत्पादन शक्ति का विनाश करने वाला न हो- यह लिया जा सकता है। इस का तात्पर्य यह बनता है कि वपन कर्म में उपयुक्त बीज की प्राप्ति भी विनाशपूर्विका नहीं बल्कि अविनाशपूर्विका होनी चाहिये।

---

1. इसका आशय यह है कि जैसे मधुकर पुष्प से रस को ग्रहण करके मधु का निर्माण करता है, और जिससे वह रस ग्रहण करता है, वह पुष्प वैसा का वैसा ही बना रहता है, जैसा पूर्व में था। अर्थात् उस पुष्प का रूप रंग सुगन्ध कोमलतादि सर्व गुण किसी भी प्रकार से बाधित नहीं होते हैं। मधुकर जैसे पुष्प की रक्षा करता हुआ पुष्प से मधु का निर्माण करता है, वैसे ही कृषक को भी बीज की रक्षा करके ही बीज से धान्यादिक की प्राप्ति करनी चाहिये।।
2. वाक्यपदीयनामके व्याकरणशास्त्रीये सुप्रसिद्धे ग्रन्थे एकस्मन् प्रसङ्गे कथितमस्ति यत्- 'बीजकालेषु संबन्धाद् यथा लाक्षारसादयः। वर्णादि परिणामेन फलानामुपकुर्वते।।' अस्यां कारिकायां वपनकार्यात् पूर्वं लक्षादिपदार्थानाम् बीजेषु संबन्धः क्रियते स्म इति सूचितमस्ति। अनया प्रक्रियया बीजेषु कश्चित् विशेषः गुणः उत्पादयितुम् शक्यते इति सुस्पष्टं सूचितमस्ति। -वाक्यपदीयम्, काण्डम्- 2, कारिका- 185 (सं. जयदेव शुक्ल, प्रका. ला.दा. विद्यामन्दिर, अहमदाबाद सन् -1984) पृ. 122

यह विनाशपूर्विका प्राप्ति क्या है, ऐसा कोई यदि प्रश्न करता है, तो उसका उत्तर इस प्रकार है- किये जाने वाले कृषिकर्म में जिस बीज का प्रयोग किया गया है, उससे कालान्तर में कृषिकर्म के फल स्वरूप धान्य या अन्न की प्राप्ति होनी है। बीज जिस धान्य का होगा, कृषिकर्म के फलस्वरूप धान्य भी वही प्राप्त होगा। अब इस प्राप्त हुए धान्य-अन्न में से आगामी समय में कृषि कार्य के लिये बीज की प्राप्ति होनी चाहिये। तब तो यह पाक अविनाशपूर्वक का है। पर यदि कृषिकर्म के फलस्वरूप प्राप्त हुआ बीज बोने पर भी उगने में सक्षम नहीं रहता है, अंकुरित हो कर पूर्व की तरह ही प्रचूर धान्य की प्राप्ति नहीं करवाता है, तो वैसे धान्य या बीज को हमें विनाशपूर्विका प्राप्ति का उदाहरण मानना पडेगा। तात्पर्य यह है कि कृषक एक बार जिस धान्य को बोता है, उसी धान्य के पाक से बीज पा कर पुनः पुनः कृषिकर्म करता रहता है, यह वैदिकी भावना मधुना संयुतं यवम् - इस पदावलि में व्यक्त हो रही है।

वर्तमान समय में सर्वत्र यह देखा जा रहा है कि बोने के लिये जो बीज उपयोग में लिया जा रहा है, वह विनाशप्राप्ति का उदाहरण बन गया है। कृषक बाजार से खरीद कर बीज लाता है। उसे बोकर कृषक कृषिकर्म में प्रवृत्त होता है। कालान्तर में जब बीज धान्य के रूप में परिणमित हो जाता है, तब उन धान्यगत कणों में बीजत्व नहीं होता है। उन्हें यदि बोया जाय, तो वे उगते नहीं है। यदि उगते हैं तो उस पर उचित पाक नहीं होता। इसलिये दूसरे वर्ष पुनः कृषक को बाजार से बीज लाने की आवश्यकता होती है। ऐसा प्रतिवर्ष होता रहता है। वेद को यह परम्परा स्वीकार्य नहीं है। वेद का उपदेश है कि कृषिकर्म में जब भी बीज की आवश्यकता हो, तब वह किसान के द्वारा विगत वर्ष में उत्पन्न किये गये धान्य में से ही प्राप्त हो जाना चाहिये। प्राचीन भारत में कृषिकर्म करने वाला कृषक जिस बीज को बोता था, वह उसका अपना ही बीज होता था। कृषक की यह मनोगत भावना प्रत्येक धार्मिक जन की भी मनोगत भावना है। किसी धर्म कार्य को करने के बाद वह प्रार्थना करता है कि इस कर्म से प्राप्त होने वाले फल को जब मैं प्राप्त करुं, तब उसे बीजरूप मान कर पुनः धर्मकार्यरूप कृषिकर्म में लगाता रहूँ। इस प्रकार से मेरे धर्म कर्म की उत्तरोत्तर समृद्धि बनी रहे।

अर्थ के अतिशय लोभ में आकर आज कल किसान बाजार से बीज ले आता है। उसे जब भूमि में प्रथम वार बोया जाता है, तब वह प्रभूत धान्य को तो उत्पन्न करता है, पर उस फसल में से बीज लेकर पुनः वपन नहीं किया जाता। यदि कोई करता भी है, तो वैसा धान्य प्राप्त नहीं होता है, जैसा प्रथम वार प्राप्त हुआ था। तीसरे चौथे वर्ष में तो वह बीज बीज ही नहीं रहता जाता है। ऐसी परिस्थिति कृषक को कभी भी सुखदा नहीं हो सकती है। क्योंकि बीज की पुनः पुनः प्राप्ति के लिये

कृषक को व्यापारी के आश्रित रहना होता है। वह बहुत सा मूल्य लेकर खूब धनवान् होता जाता है, जब कि किसान वर्ष प्रतिवर्ष निर्धन होता चला जाता है। आज यही हो रहा है। यदि वेद की विचारधारा के अनुरूप बीज को सदा अविनाशपूर्वक प्राप्त किया जाता रहे, तब तो कृषिकर्म सुखद बन सकता है।

इस प्रकार से कृषिकर्म में अत्यन्त उपयोगी भूमि तथा बीज रूप दो पदार्थों के विषय में वेद अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। यह वैदिक दृष्टि कोण प्राचीन-भारतीय-समाज का परंपरागत विज्ञान था, जिसका कृषकों के द्वारा सुदृढता से परिपालन किया जाता था। फलतः साम्प्रतीक काल में भूमि तथा बीज से संबद्ध जिस प्रकार की समस्याएँ हैं, वैसी उस काल में नहीं थी। इस रूप में कृषि कर्म को उत्तम आजीविका के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त थी। (आज तो कृषिकर्म निकृष्ट कर्म के रूप में बदनाम है। जिसे कोई करने के लिये तैयार नहीं है।)

(घ) भूमि तथा बीज के बाद कृषिकर्म में उपयोगी वस्तु है पानी। यह पानी कैसा हो, इसका सूचन हमें उपदेश प्रार्थनामन्त्र में प्राप्त होता है। प्रार्थना के शब्द इस प्रकार हैं -

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्।
यद् दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिंचतम्।। -अथर्ववेद 3.17.7

मन्त्र का अर्थ है - (यद् पयः) जो जल (दिवि चक्रथुः) द्युलोक में, जलद अर्थात् बादल या सूर्य के द्वारा संपादित है, (तेन इमाम् उप सिंचतम्) उस जल से इस भूमि को सिंचना।

यहाँ वर्षा के जल से कृषिकर्म करना चाहिये, ऐसा उपदेश दिया गया है। सामान्यरूप से तो नदीजल पतालजल तथा सामुद्रिक जल- इस प्रकार से विविध जल पृथिवी में प्राप्त होते हैं। परन्तु यहाँ तो मात्र वार्षिक जल के द्वारा ही भूमि को सिंचने का सूचन किया गया है, तदतिरिक्ति किसी जल से नहीं। इस प्रकार की प्रार्थना करते हुए ऋषि वर्षा से प्राप्त जल के द्वारा ही कृषिकर्म करने को सर्वश्रेष्ठ मानता है।

इस वचन के आधार पर हमारा मानना है कि वेदोक्त परंपरागत विज्ञान की दृष्टि से कृषि कार्य में उपयुक्त जल यदि वर्षा का होगा, तो उपज अच्छी होगी, भूमि मणितुल्य बनी रहेगी तथा कृषक को श्रम भी कम ही करना पडेगा। अथ च आकाशस्थित मेध में जब विजली चमकती है, तथा गर्जना होती है, तब उससे मेधस्थ जल में कई प्रकार से गुणों का आधान होता है। यह वैदिक परंपरागत विज्ञान है, मान्यता है। इसी कारण से शन्नः कनिक्रद्देव पर्जन्योघभिवर्षतु।[1] अर्थात् गर्जता हुआ

---

1. यजुर्वेद, अध्याय 36, मन्त्र 10

पर्जन्य बरसता रहे – ऐसी वेदमन्त्र में प्रार्थना की जाती है। उधर आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में जलों में वर्षा के जल को ही सर्वोत्तम माना है।[1]

साम्प्रतिक समाज में बहुतायत रूप से कृषिकर्म प्रायः वर्षा जल का अत्यन्त ही न्यून प्रयोग हो रहा है, जब कि पाताल से प्राप्त किये जाने वाले जलों का अत्यधिक प्रयोग हो रहा है। इस कारण भूमि भी गुणविहीन हो रही है तथा कृषि का फल भी उतना गुणसम्पन्न नहीं रहा, जितना होना चाहिये। जो किसान आज भी वर्षा के जल से कृषिकर्म करते हैं, उनकी भूमि भी मणि की तरह ही सर्वदा समानगुणयुक्त बनी रहती है, और पाक भी गुणवान् तथा अविनाशपूर्वकबीजवान् प्राप्त होता है।[2]

मणितुल्य भमि में मधु से संयुक्त यव की कृषि करने वाले लोगों को देवता बताया गया है। इससे पता चलता है कि इन सिद्धान्तों के प्रति अरुचि रखने वाले लोग देवतेतर– असुर किंवा राक्षस– दानव हैं। मानव यदि दानव बन कर कृषिकर्म करता है, तो वह वेद को मान्य नहीं है। मानव देवता बन कर कृषिकर्म करे यह वेद को मान्य है। मानव को देवत्व दो कारणों से मिलता है – दानात् वा दीपनात् वा। अर्थात् एक तो मानव देने की भावना से कृषिकर्म करता है, तब तो वह देवता बन जाता है। और दूसरा प्रकृति के पदार्थों को चमकते रख कर कृषिकर्म करता है, तब वह देव बनता है। कृषि कर्म करते हुए मात्र खुद ही स्वार्थ देखना पशु पक्षी या प्राणिमात्र की उपेक्षा करना तथा स्वयं की समृद्धि का ख्याल रखना मानव का कार्य नहीं है।

आज कल कृषिकर्म करते हुए कुछ लोगों ने खुद को तो चमका दिया है, पर भूमि, कीट–पतंग, पशु–पक्षी इत्यादि को हानि पहुँचाई है। इस प्रकार से मानव दानव बन गया है। वेद देव बन कर कृषि कर्म करने की बात करता है, दानव बन कर नहीं। यह भी स्मर्तव्य है कि प्रत्येक कर्म के फल पर उस कर्म के करने वाले कर्ता के पूर्वार्जित शुभाशुभ कर्म का भी प्रभाव पडता है। इस कारण वेद के एक मन्त्र

---

1. द्रष्टव्य– आन्तरिक्षम् उदकानाम्– (अग्र्याणां शतमुपदेशकाले, चरकसंहिता, सूत्रस्थानम्, अध्याय– 25)
2. हमारे गुजरात प्रान्त में भालिया नाम की गोधूम की एक जाति होती है। अहमदाबाद के पास दक्षिण दिशा में भालप्रदेश है। वहाँ के जो कृषक है, वे कृषिकर्म के रूप में मात्र गोधूम को बोने का कार्य करते हैं। न तो वे उन्हें जल देने जाते है, न ही खाद देने। बस, पाक के अन्त में लवन के लिये ही जाते हैं। इस प्रकार का यह कृषिकर्म अपने आप में अनूठा है। पर, वेद की मान्यता के अनुकूल है। नियतकाल में उस भूमि पर उत्पन्न हुए ये गेहूँ बाजार में अन्य प्रकार के गेहूँ की अपेक्षा से महेंगे बीकते–मिलते हैं।।

में मेरे पाप कर्म दूर हों, इस प्रकार की प्रार्थना की गई है।[1]

हमारा मानना है कि वेद के इस मन्त्र में कृषिकर्म के सूत्ररूप में मूलभूत सिद्धान्तों का निर्देश है। इन सूत्रों की व्याख्या करके हम वैदिक कृषिविज्ञान को इस प्रकार से आकारित कर सकते हैं कि प्राचीन कृषिकर्म में –

1. कृषिकर्म के लिये भूमि मणि की जैसी तथा बीज मधु से संयुक्त होने चाहिये। भूमि को मणिरूप बनाय रखने के लिये उसे जोतने के लिये बैल का प्रयोग करना चाहिये। जब कि बीज को मधु से संयुक्त रखने के लिये विनाशात्मक प्रक्रिया से उपर उठ कर उत्पन्न धान्य से ही बीज की प्राप्ति करने का यत्न किया जाना चाहिये।[2]

2. कृषिकर्म में प्रयुक्त होने वाला जल पर्जन्य-वर्षा का होना चाहिये, न कि खनिज जल।

3. पाक की परिपक्वता हो जाय, उसके बाद ही अन्नादि का लवन करना चाहिये, उससे पूर्व नहीं। अर्थात् धान्य या फलादि को स्वयं परिपक्व होने पर ही काटना चाहिये, अपरिपक्वावस्था में काट कर कृत्रिमता से परिपक्व नहीं करना चाहिये। यथाकाल पके हुए धान्य का उपभोग करना चाहिये।

4. कृषिकर्म करने वाले व्यक्ति देवत्व गुण से संपन्न होने चाहिये।

---

1. (देखें – सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे। अप नः शोशुचदघम्।। ऋग्वेद 1.97.2 इस मन्त्र का अर्थ है – हे परमात्मन् (सुक्षेत्रिया) सुशोभनीय क्षेत्र के लिये (सुगातुया) सुशोभनीय मार्ग के लिये और (वसूया च) सुशोभनीय धन के लिये (यजामहे) हम आप के उद्देश्य से यज्ञ करते हैं। (अप नः शोशुचत् अघम्) हमारा पाप नष्ट होवे।। (पृ.161) (सायणभाष्यम् – सुक्षेत्रिया शोभनक्षेत्रेच्छया सुगातुया शोभनमार्गेच्छया वसूया च धनेच्छया निमित्तभूतया च यजामहे अग्निं हविर्भिः पूजयामः। यद्वा सुक्षेत्रिया देवयजनलक्षणशोभनदेश-संबंन्धिना हविषा अग्निम् यजामहे। नः अस्माकम् अघम् अप शोशुचत् विनश्यतु। सुक्षेत्रिया। शोभनं क्षेत्रं सुक्षेत्रम्। तद्विषयेच्छा सुक्षेत्रिया।।)
2. संस्कृत व्याकरण शास्त्र की नव्य परम्परा में धात्वर्थ का विचार कुछ इस प्रकार से किया जाता है- खाद् धातु का अर्थ बताते हुए कहा जाता है- गलबिलाधःसंयोगानुकूलव्यापारः खाद्धातोरर्थः। इस रीति का अनुसरण करके कृष् धातु का वेदानुकूल अर्थ विचारा जाय, तो वह इस प्रकार से करना होगा – विना विनाशं भूमितः अन्नादिप्राप्त्यनुकूलव्यापारः कृषेरर्थः। – इति दिक्।।

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (12-24) January-June 2019 ISSN 2277-4351

ब्रह्माण्ड में विभिन्न बलों का क्रियाविज्ञान - वैदिक एवं आधुनिक भौतिकी के संदर्भ में

आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक, प्रमुख
श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास,
वेद विज्ञान मन्दिर, भीनमाल (राज.)-343029

सार

[सृष्टि निर्माण में जिस गुण की सबसे बड़ी भूमिका होती है, वह है बल। बल के बिना कोई सृजन कार्य सम्भव नहीं है। ये बल अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ बल विद्युत् आवेशविहीन पदार्थों के मध्य, तो कुछ विद्युत् आवेशित पदार्थो के मध्य कार्य करते हैं। विद्युत् आवेशित कण परस्पर एक दूसरे को आकर्षित वा प्रतिकर्षित करते हैं। समान आवेश वाले कण एक दूसरे को प्रतिकर्षित तथा विपरीत आवेश वाले आकर्षित करते हैं। वर्तमान विज्ञान इस आकर्षण और प्रतिकर्षण के पीछे मीडिएटर पार्टिकल्स के विनिमय को उत्तरदायी मानता है। परन्तु वह इसके क्रियाविज्ञान को अभी तक नहीं जान पाया है। कैसे मीडिएटर पार्टिकल्स बनते हैं? कौन सा बल उनके विनमय के लिए उत्तरदायी है? Charged Particles की आंतरिक संरचना क्या है? आदि प्रश्न वर्तमान विज्ञान के लिए अभी भी पहेली बने हुए हैं। वैदिक रश्मि थ्योरी, जो कि मेरे ग्रंथ **'वेदविज्ञान-आलोकः'** पर आधारित है, के अनुसार अनुसार सभी मूलकण, क्वांटा, स्पेस आदि वैदिक छन्द रश्मियों से बनते हैं। ये रश्मियां इन कणों से उत्सर्जित होती रहती हैं। जब धनंजय रश्मि का मरुत् रश्मियों से संयोग होता है, तब वर्तमान में कहे जाने वाले Virtual Particles का निर्माण होता है। इस तरह यह थ्योरी वर्तमान भौतिकी से कहीं अधिक गहराई में जाकर ब्रह्मांड को समझने में हमारी सहायता करती है। ये Virtual Particles अपने दोनों ओर संचारित होने वाली मरुत् व धनंजयादि रश्मियों को आकृष्ट करते हैं। इससे दोनों कणों का मध्यस्थ सिकुड़ता हुआ दोनों कणों को निकट ले आता है।]

सम्पूर्ण सृष्टि में जो भी कुछ हमारे अनुभव में आता है अथवा नहीं भी आता है, वह सभी कुछ नियमबद्ध होकर परमात्मा के प्रशासन में कार्य करता व उत्पन्न

भी उसी के नियमों के अनुकूल होता है। इसलिए भगवत्पाद महर्षि व्यास जी महाराज ने लिखा–

सा च प्रशासनात्।[1]

यह बात पृथक् है कि हम उसके प्रशासन के नियमों को पूर्णरूप से कभी नहीं जान सकते। इसी प्रकार प्रसिद्ध अमेरिकी वैज्ञानिक रिचर्ड पी. फाइनमैन ने भी कहा है–

"We can imagine that this complicated array of moving things which constitutes "the world" is something like a great chess game being played by the God, and we are observers of the game. We do not know what the rules of the games are; all we are allowed to do is to watch the playing. Of course, if we watch long enough, we may eventually catch on to a few of the rules. The rules of the game are what we mean by fundamental physics. Even if we knew every rule, however, we might not be able to understand why a particular move is made in the game, merely because it is too complicated and our minds are limited"[2]

अब हम उस ईश्वर के प्रशासन के विषय में विचार करते हैं। हम जानते हैं कि सृष्टि के शासन के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण पदार्थ है– बल। बल द्रव्य का वह मूलभूत गुण है, जिसके द्वारा परमात्मा संपूर्ण ब्रह्मांड पर नियंत्रण कर रहा है तथा इसी के द्वारा इस ब्रह्मांड की उत्पत्ति भी करता है। सृष्टि के सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा विशाल से विशाल पदार्थों का नियंत्रण बल नामक गुण के द्वारा ही होता है।

"One of the most important characteristics of force is that it has a material origin." "If you insist upon a precise defination of force, you will never get it."[3]

इधर बल गुण के विषय में महर्षि यास्क कहते हैं–"बलं कस्मात् बलं भरं भवति बिभर्त्तेः"[4] अर्थात् जो किसी पदार्थ का धारण व पोषण करता है, वह गुण बल कहलाता है। यह हम सब जानते हैं कि बल के द्वारा ही सृष्टि के सभी लोकों से लेकर सूक्ष्मतम कणों का परस्पर धारण होता है। अब प्रश्न उठता है कि बल के द्वारा पदार्थों का पोषण कैसे होता है और यह भी विचारणीय है कि 'पोषण' शब्द का क्या अर्थ है? क्या सभी पदार्थों का अस्तित्व भी बल गुण पर निर्भर है? हां, यहाँ महर्षि

---

1. ब्रह्मसूत्र 1.3.11
2. Lecture on physics, Rechard P. Feyman
3. Pg. 147, Lecture on physics, Rechard P. Feyman
4. निरुक्तम् 3.9

यास्क का आशय यही है। आइये, इसे इस प्रकार समझते हैं कि प्रत्येक स्थूल पदार्थ सूक्ष्म कणों के संयोग से उत्पन्न होता है एवं उसी संयोग पर उस पदार्थ का जीवन निर्भर है। यदि उस पदार्थ के अवयवरूप सूक्ष्म कणों के मध्य कार्यरत बल अकस्मात् समाप्त हो जाए, तब उस पदार्थ का अस्तित्व तुरंत समाप्त हो जायेगा और वह सूक्ष्म कणों में बिखर जायेगा। अब क्या सूक्ष्म कणों का अस्तित्व भी बल पर आश्रित है? हां, तब वह कैसे? इसे इस प्रकार समझते हैं कि प्रत्येक कण नाना प्रकार की छन्द व प्राण रश्मियों तथा वे रश्मियां मनस्तत्व, महत्तत्व व मूलरूप से प्रकृतिरूपी मूल पदार्थ से बना है। ये सब पदार्थ पृथक्-2 स्तर पर पृथक्-2 बलों व अंत में ईश्वरीय बल के कारण उत्पन्न हुए व अस्तित्व को बनाए रख पाते हैं। अब व्याकरण की दृष्टि से इस शब्द पर विचार करें तो-

'बलम्' शब्द 'बल प्राणने धान्यावरोधे च' धातु से निष्पन्न है। इससे स्पष्ट है कि यह गुण पदार्थ को प्रकृष्ट रूप से कंपन कराता, उनका संचय करता व उन्हें रोकता है। अगर सृष्टि के विभिन्न बलों के कार्यों पर स्थूल दृष्टि से विचारें, तो ये कार्य सर्वत्र होते हैं और इन्हीं के द्वारा पदार्थों का धारण व पोषण होता है। अब बल के विषय में कुछ अन्य आर्षवचनों पर भी दृष्टि डालते हैं-

बलं मेघनाम।[1]
बलं वै मरुतः।[2]
बलं विश्वेदेवाः।[3]
आत्मा वै बलम्।[4]

इन वचनों से बल के क्रियाविज्ञान का अद्भुत प्रकाश होता है। संक्षेप में इनसे स्पष्ट होता है कि विभिन्न पदार्थ विभिन्न मरुद् व प्राणादि रश्मियों से निर्मित हैं और वे पदार्थ इन रश्मियों की एक दूसरे पर ऐसे वृष्टि करते रहते हैं, जैसे मेघ वर्षा करते हैं। ये रश्मियां सततगतियुक्त होकर बलों के प्रभाव को सतत बनाए रखती हैं। इस क्रियाविज्ञान को हम इस लेख में संक्षिप्त रूप से समझने का प्रयास करेंगे। हाँ, यहां तक बल के निर्वचनों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान भौतिकी से वैदिक भौतिकी कितनी स्पष्ट व दूरगामी है।

आधुनिक विज्ञान मूल रूप से चार बलों की सत्ता को स्वीकार करता है। वे बल हैं-

---

1. निघण्टु 1.10
2. काठक संहिता 29.9
3. मैत्रायणी संहिता 4.7.8
4. काठक संकलन 72.5

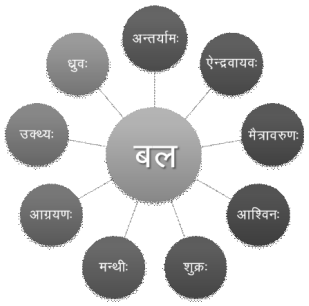

जबकि वैदिक भौतिकी नौ प्रकार के प्रमुख बलों को मानती है परन्तु सबसे मूल बल ईश्वर का ही बल है। हम यहाँ सर्वप्रथम वर्तमान भौतिकी में इन बलों के क्रियाविज्ञान को समझने के लिए हम एक बल विद्युत् चुंबकीय बल पर विचार करते हैं–

आकर्षण बल का आधुनिक सिद्धान्त

यह बल दो विद्युदावेशित कणों के मध्य कार्य करता है। जिन कणों पर समान आवेश होता है, वे परस्पर एक दूसरे को प्रतिकर्षित करते तथा जिन कणों पर परस्पर विपरीत आवेश होता है, वे परस्पर आकर्षित होते हैं। यहाँ हम केवल आकर्षण बल की ही व्याख्या करेंगे। इसकी प्रक्रिया को इस प्रकार दर्शाया जाता है–

चित्र- आकर्षण बल के कार्य करने की प्रणाली

देखें इस चित्र में दो व्यक्ति एक गेंद को एक दूसरे पर फेंकते व पकड़ते हुए कैसे एक दूसरे के निकट आते जा रहे हैं? इसी प्रकार असमान विद्युदावेशित कणों के परस्पर निकट आने पर उनके मध्य वर्चुअल फोटोन्स का विनिमय होने से वे दोनों कण परस्पर निकट आते हैं। गेंद का कार्य वर्चुअल फोटोन्स तथा असमान आवेशित कण दो व्यक्तियों के रूप में कार्य करते हैं। इस विषय में कहा जाता है–

Whenever two like charges are placed near each other, they start exchanging virtual photons amongst themselves, which transfer the momen-

tum between them, and thus they appear to repeleach other.Similaraly, in the case of unlike charges also momentum transfer takes place but in such a way that they appear to attract each other.

यह आश्चर्य की बात है कि समान व असमान आवेश वाले कणों के मध्य momentum के transfer की प्रक्रिया सर्वथा विपरीत प्रकार से होती है। वर्तमान भौतिक शास्त्री इस बात की व्याख्या करने में नितान्त असमर्थ हैं कि यह प्रक्रिया परस्पर विपरीत प्रकार से कैसे होती है? कौन इन प्रक्रियाओं को बुद्धिजन्य प्रयोजन पूर्वक सम्पन्न करता है? इस विषय में लिखा है–

"You might think of the mediating particles, rather, as messengers" and the message can just as well be "come a little closer" as "go away."[1]

अर्थात् वर्चुअल फोटोन्स आदि मीडियेटर पार्टिकल्स दोनों कणों के मध्य सन्देशवाहक का कार्य करते हैं और सन्देश होता है– 'थोड़ा निकट आओ' अथवा 'दूर जाओ'। इस प्रकार की भाषा विज्ञान के नाम पर चलना हास्यास्पद है। कणों का दूर जाना वा पास का आने का एक निश्चित क्रियाविज्ञान है, जो वर्तमान Quantum field theory को पूर्ण विदित नहीं है।

आधुनिक Quantum Field Theory पर कुछ प्रश्न

(1) धन व ऋण आवेशित कणों की संरचना में क्या भेद है?

(2) जब वे दोनों कण अथवा समान वा असमान प्रकार के कण निकट आते हैं, तब क्यों virtual photons उत्पन्न होने लगते हैं? बल की उत्पत्ति प्रथम होती है अथवा मीडियेटर पार्टिकल्स पहले उत्पन्न होते हैं? यदि बल की उत्पत्ति पहले होती है, तब उसकी उत्पत्ति का कारण क्या है? और यदि मीडियेटर पार्टिकल्स पहले उत्पन्न होते हैं, तब उनकी उत्पत्ति का कारण क्या है? यदि बल तथा मीडियेटर पार्टिकल्स परस्पर एक दूसरे पर निर्भर नहीं, तो दोनों विशेषकर मीडियेटर पार्टिकल्स की उत्पत्ति इस प्रक्रिया में क्यों आवश्यक होती है?

(3) मीडियेटर पार्टिकल्स exchange के लिए कौन सा बल उत्तरदायी है?

(4) विद्युत् क्षेत्र किससे बना होता है और आवेशित कण इस क्षेत्र को कैसे व क्यों उत्पन्न करते हैं?

(5) मीडियेटर पार्टिकल्स जिस वैक्यूम एनर्जी से उत्पन्न माने जाते हैं, उस वैक्यूम एनर्जी का क्या स्वरूप होता है और उसकी उत्पत्ति कैसे होती है?

(6) मीडियेटर पार्टिकल्स की उत्पत्ति का क्रियाविज्ञान क्या है?

---

1. Pg.16, Introdution to elementry particles, David Griffiths

(7) मीडियेटर पार्टिकल्स के विनिमय के द्वारा आकर्षण व प्रतिकर्षण बलों के उत्पन्न होने का क्रियाविज्ञान क्या है?

(8) मीडियेटर पार्टिकल्स को क्यों डिटेक्ट नहीं कर सकते हैं?

(9) वे अत्यल्प काल तक ही क्यों अस्तित्व में रहते हैं?

इन सभी प्रश्नों के अतिरिक्त अन्य प्रश्न भी इस थ्यौरी पर हो सकते हैं, जिनका उत्तर वर्तमान Quantum field theory के पास नहीं है।

विद्युत् चुम्बकीय आकर्षण बल का क्रिया-विज्ञान

अब मैं अपनी वैदिक रश्मि थ्यौरी के आधार पर बलों के स्वरूप व उनके क्रियाविज्ञान की अति संक्षिप्त व्याख्या करता हूँ। इस व्याख्या से पूर्व वैदिक रश्मियों के स्वरूप को समझना अनिवार्य है। इस कारण इसकी क्रमशः परन्तु संक्षिप्त चर्चा करते हैं-

सम्पूर्ण जगत् का मूल उपादान कारण है- प्रकृतिरूप सूक्ष्मतम पदार्थ, जिसके महाभारत में 31 विशेषण दर्शाये हैं। इसमें 9 विशेषण **भगवान् महादेव शिव,** 21 विशेषण **भगवान् परमर्षि ब्रह्मा** एवं एक विशेषण बताया है, **महर्षि वसिष्ठ जी** ने। इसकी चर्चा हमने ऐतरेय ब्राह्मण के अपने वैज्ञानिक भाष्य **'वेदविज्ञान-आलोकः'** में विस्तार से की है। इसके लिएयू-ट्यूब पर हमारे विडियोज भी देखे जा सकते हैं। इस प्रकृति पदार्थ में सर्वप्रथम ईश्वर द्वारा परा **'ओम्'** स्पन्दन उत्पन्न करके प्रकृति के सत्व व रजस् दो गुणों को जाग्रत करके कालतत्त्व को सृष्टि रचना हेतु सक्रिय किया जाता है। सत्व व रजस् गुणों से युक्त परा **'ओम्'** से स्पन्दित प्रकृति ही सक्रिय काल का रूप होती है।

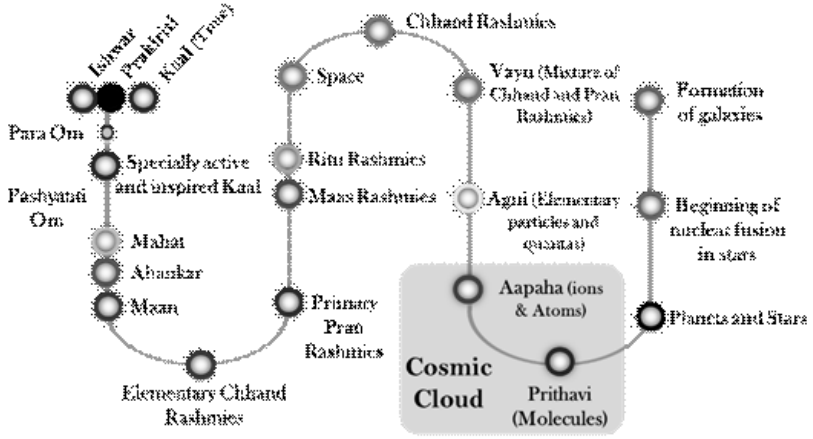

चित्र- वैदिक भौतिकी में सृष्टि प्रक्रिया के विभिन्न चरण

अब यह काल तत्व तमोगुण को भी जाग्रत कर प्रकृति को स्पन्दित करके महत्तत्व के रूप में प्रकट करने लगता है। अंहकार व मनस्तत्त्व इसी महत्तत्व के अग्रिम रूप हैं। ईश्वर प्रेरित काल तत्व द्वारा मनस्तत्व में पश्यन्ती 'ओम्' प्रकट होती हैं, जिसके पश्चात् सर्वप्रथम महाव्याहृतिरूप सात रश्मियां निम्नानुसार प्रकट होती हैं-

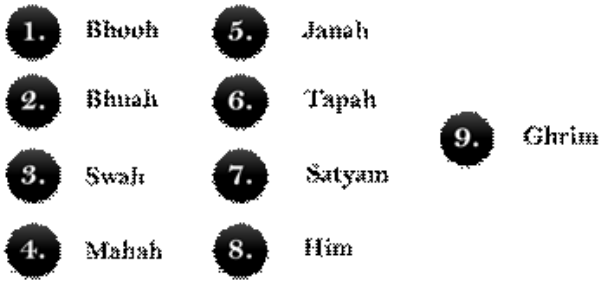

इसके पश्चात् सूत्रात्मा वायु तदुपरांत प्राण, अपानादि दस प्राणरश्मियां भूरादि स्पन्दनों से समृद्ध मनस्तत्त्व के सागर में लहरों की भांति उत्पन्न होती हैं। इसके अनंतर सूक्ष्म वैदिक छंद रश्मियां (मरुत्) उत्पन्न होती हैं और इन सबके विशिष्ट योग से आकाश महाभूत (space) की उत्पत्ति होती है। वर्तमान भौतिकी space के पूर्व उत्पन्न किसी भी पदार्थ के बारे में नितांत अंधकार में है। इसके साथ ही आकाश (space) dscurve वा distort होने की चर्चा करते हुए भी इसके स्वरूप, संरचना व उसके उत्पत्ति-क्रिया विज्ञान को नहीं जानता।

Space के बनने के पश्चात् मनस्तत्त्व में तीव्र स्पन्दनों के रूप में विभिन्न वैदिक ऋचाओं की उत्पत्ति होती है। ये स्पन्दन (vibration) स्पेस के साथ मिलकर लंबी प्रक्रिया के चलते विभिन्न मूलकणों व क्वाण्टाज् को उत्पन्न करते हैं। वे मूलकण व क्वाण्टा वैदिक छन्द व प्राणादि रश्मियों के ही संघनित रूप हैं। इसके विषय में मद्रचित ग्रंथ 'वेदविज्ञान-आलोकः' पढ़ना आवश्यक है।

अब हम 'वेदविज्ञान-आलोकः' में प्रस्तुत वैदिक रश्मि थ्यौरी के आधार पर विद्युत् चुंबकीय बल के स्वरूप एवं क्रियाविज्ञान को दर्शाते हैं-

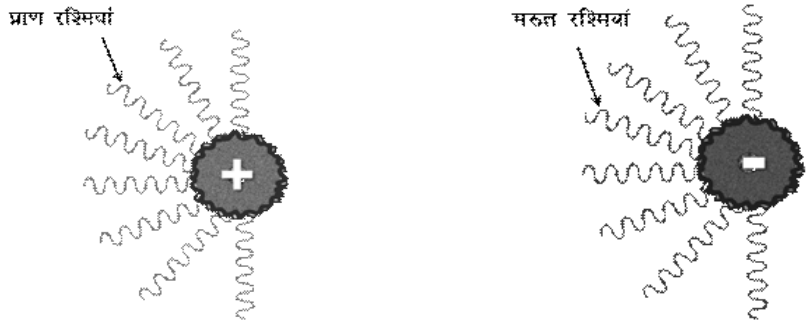

इस सृष्टि में वैदिक छंद व प्राण रश्मियां दो प्रकार की होती हैं। उनमें एक प्रकार की रश्मियां पुरुष रूप व्यवहार दर्शाती हैं तथा दूसरी प्रकार की रश्मियां स्त्रीरूप व्यवहार को दर्शाती हैं। इधर वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से इस सृष्टि का निर्माण विद्युत् धनावेशित तथा विद्युत् ऋणावेशित कणों के नाना संयोगों से हुआ है। वैदिक विज्ञान इस जगत् को अग्निवसोम नामक पदार्थों के संयोग से उत्पन्न मानता है। हमारी दृष्टि में अग्नि में प्राण तथा सोम तत्व में मरुद् रश्मियों की प्रधानता होती है।

इन दोनों प्रकार के कणों के मध्य आकर्षण प्रक्रिया को दर्शाते हुए वे महर्षि ऐतरेय महीदास जी लिखते हैं-

आहूतयो वै नामैतायदाहुतयएताभिर्देवान्
यजमानो नयति तदाहुतीनामाहूतित्त्वम्।।[1]

यहाँ "आहूतिः" व 'आहुतिः' इन दो पदों का प्रयोग है। "आहूतिः" पद 'ह्वेञ् स्पर्धायाम् शब्दे च' धातु से निष्पन्न होता है। यह धातु चारों ओर से बुलाना, आकर्षण करना आदि अर्थों में प्रयुक्त है। उधर 'आहुतिः' पद 'हु दानादानयोः आदाने चेत्येके' धातु से निष्पन्न है। यह धातु ग्रहण करने तथा देने के अर्थ में प्रयुक्त है। इन दोनों ही धातुओं से आकर्षण-प्रतिकर्षण आदि अर्थों का ग्रहण होता है, इस कारण यहां आहूति को ही आहुति कहा गया है। इस सृष्टि में संयोज्य कण विभिन्न देव अर्थात् प्राण व मरुदादि रश्मियों को आकर्षित करते व उत्सर्जित करते हैं। इस प्रक्रिया को समझने हेतु इस चित्र को गंभीरता से देखें-

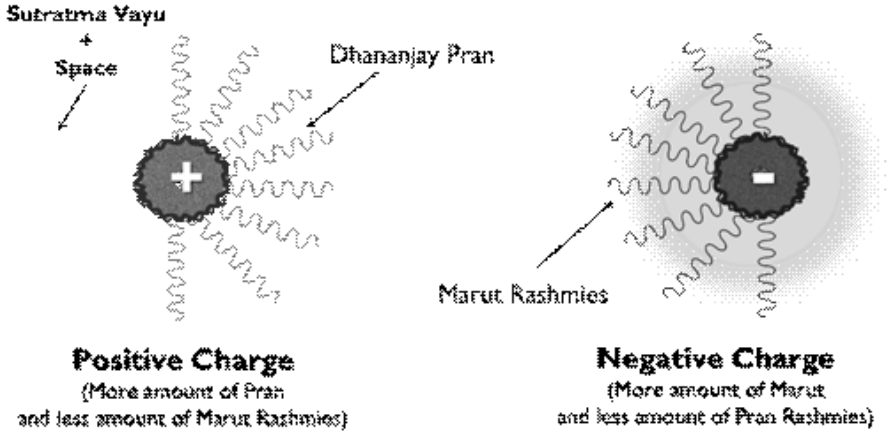

1. ऐतरेय ब्राह्मण 1.2

यहां धनावेशित (आग्नेय) व ऋणावेशित (सौम्य) दोनों कण स्थित हैं। महर्षि दयानंद ने ऋग्वेद भाष्य 6.72.3 में 'सोम' का अर्थ मरुत् ही किया है तथा ऋग्वेद 6.72.2 के भाष्य में विद्युत् किया है। इस कारण हमने सौम्य कण से विद्युत् ऋणावेशित कण का ग्रहण किया है। आर्य विद्वान् पंडित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर का भी यही मत है। सोम के लिए वेद में कहा गया है-

"सोमः अंतरिक्षं दाधार"।[1]

इससे स्पष्ट है कि सोमप्रधान अर्थात् ऋणावेशित कण अपनी सूक्ष्म मरुद् रश्मियों के द्वारा आकाश (space) को धारण किए रहता है किंवा मरुद्रश्मियों का space के साथ विशेष interaction होता है। उधर space अग्नि प्रधान कण को धारण करने वाला होता है, इसलिए कहा है-'अंतरिक्षमाग्नीध्रम्'[2], 'अंतरिक्षं वाऽआग्नीध्रम्'[3]।

इस प्रकार space दोनों कणों के मध्य इस प्रकार व्यवहार करता है, मानो वह एक शीट के समान हो और उस पर शीट पर दो बच्चे बैठे हों। एक बच्चा शीट से चिपका हुआ है और दूसरे बच्चे ने शीट को पकड़ा हुआ है, जो शीट को खींच-खींचकर शीट से चिपके हुए बच्चे को अपनी ओर ला रहा है।

इस विषय में प्रसिद्ध भौतिक विज्ञानी रिचर्ड पी. फाइनमैन का मत है-

"The existence of the positive charge, in some sense distorts or creates a 'condition' in space, so that when we put the negative charge in it feels a force this polentiality of producing a force is called an electric field."[4]

---

1. ऋग्वेद 6.47.4
2. तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.1.5.1
3. शतपथ ब्राह्मण 9.2.3.15
4. Pg. 17, Lecturer on physics, Rechard P. Feyman

अर्थात् धनावेशित कण space को distort करता है, जिससे ऋणावेशित कण एक आकर्षण बल का अनुभव करता है। फाइनमैन का कथन वैदिक विज्ञान के कथन के प्रायः अनुकूल है। हाँ, फाइनमैन को इसका कारण किञ्चिदपि ज्ञात नहीं है।

सूत्रात्मा वायु कणों को बांधे रहता है। जैसा कि हमने कहा कि धनावेशित कण अग्नितत्वप्रधान अर्थात् प्रधानरूप से प्राण रश्मियों के संपीडन से बने होते हैं तथा ऋणावेशित कणों में मरुद् रश्मियों की प्रधानता होती है। ऐसी स्थिति में धनावेशित कण से प्राण तथा ऋणावेशित कणों से मरुद् रश्मियां उत्सर्जित होने लगती हैं।

कणों से वे प्राण व मरुद् रश्मियां क्यों रिसने वा उत्सर्जित होने लगती हैं? इस विषय में भगवान् ऐतरेयमहीदास ने संकेत किया है-

"तस्मादुपांशु वाचा चरितव्यं सोमे राजनि क्रीते गन्धर्वेषु हि तर्हि वाग्भवति साऽग्नावेव प्रणीयमाने पुनरागच्छति।"[1]

यहाँ गंधर्व का अर्थ है-सूत्रात्मा वायु। महर्षिदयानंद 'गंधर्वः' का भाष्य करते हुए लिखते हैं-

यो गां पृथिवीं धरति स सूर्य्यः वायुर्वा।[2]

इस प्रकार कण्डिका का आशय है कि सूत्रात्मा वायु के घेरे के अंदर वाक् रश्मियां अर्थात् 'ओम्' एवं भूरादि रश्मियां विद्यमान होती हैं। वे रश्मियां उपांशु अर्थात् अव्यक्त भाव से प्रवाहित होकर मरुद् रश्मियों को आकृष्ट करके बाहर निकालती हैं।

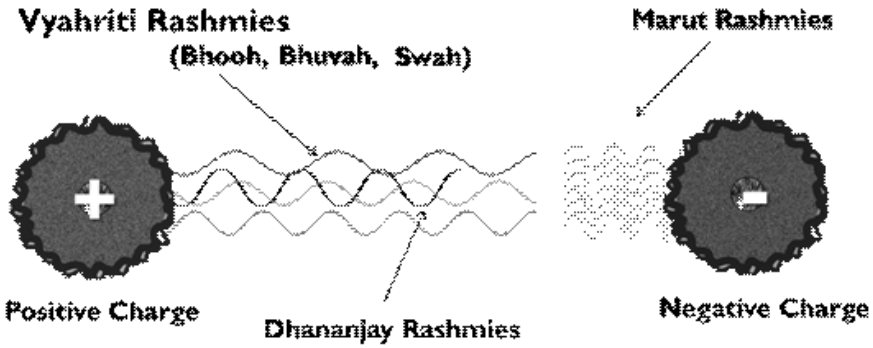

1. ऐतरेय ब्राह्मण 1.27
2. महर्षि दयानन्दयजुर्वेद भाष्य 17.32

उसके पश्चात् मरुद् रश्मियां भूरादि के साथ-2 प्राण रश्मियों, विशेषकर उनमें से सर्वाधिक तीव्रगामी धनंजय रश्मियों को आकृष्ट करती हैं।

वर्तमान भौतिकी जिन virtual photons की उत्पत्ति की बात करता है, वे कण वस्तुतः virtual अर्थात् काल्पनिक नहीं है, बल्कि वास्तविक हैं परंतु उनका जीवन काल अत्यंत अल्प होने से वे detect नहीं हो सकते। वे किस पदार्थ से बनते हैं, वैक्यूम एनर्जी क्या है? इस प्रश्नों का उत्तर वर्तमान विज्ञान के पास नहीं है। हमारी वैदिक रश्मि थ्यौरी के अनुसार इनकी उत्पत्ति वास्तविक फोटोन की भांति प्राण व मरुद् रश्मियों के पारस्परिक मेल व संघनन से होती है। इसे इस चित्र में समझने को प्रयत्न करेंगे-

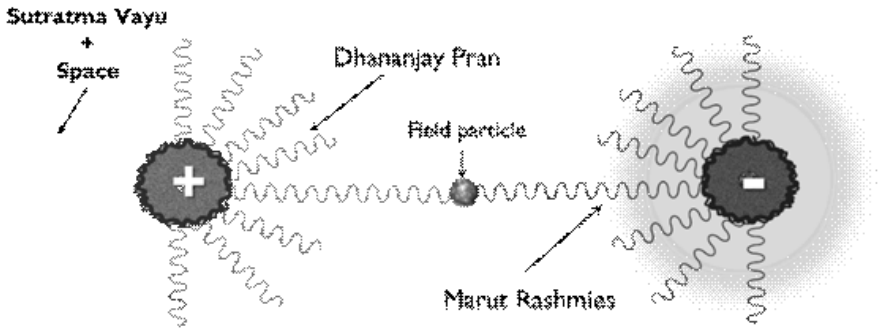

इसी समय वहां एक गायत्री छन्द रश्मि प्रकट होती है। इस विषय में कहा है-

"तदेतहषिः पश्यन्नभ्यनूवाच 'नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः"।[1] इति।।

तस्माद्धाप्येतर्हि भरताः सत्वनां वित्तिं प्रयन्ति तुरीये हैव संग्रही-तारो वदन्तेऽमुनैवानूकाशेन यदद इन्द्रः सारथिरिव भूत्वोदजयत्।

अर्थात् उस समय

शतेना नो अभिष्टिभिर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः। वायो सुतस्य तृम्पतम्।[2], जो इन्द्रदेवताक तथा वामदेव ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न ऋचा है, के द्वितीय पाद-

'नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः' की उत्पत्ति होती है। इसका छन्द प्राजापत्या गायत्री है। यह याजुषी अनुष्टुप् के समान भी है।

---

1. ऐतरेय ब्राह्मण 2.25 में
2. ऋग्वेद 4.46.2

अनुष्टुप् छन्द के विषय में भगवान् यास्क का कथन है-

'अनुष्टुबनुष्टोभनात्'[1] यही कथन दैवत ब्राह्मण में भी आया है। इस रश्मि के प्रभाव से इन्द्रतत्व सूत्रात्मा और धनंजय वायु का सारथि बनकर उसे नियन्त्रण में ले लेता है और उसे अपने साथ जोड़ भी लेता है। महर्षि यास्क 'नियुतः' पद का निर्वचन करते हुए लिखते हैं- "नियुतो नियमनाद्वा, नियोजनाद्वा।"[2] हमारा उपर्युक्त अर्थ इसी निर्वचन के अनुकूल है।

यहाँ भरत के विषय में ऋषियों का कथन है-

प्रजापतिर्वै भरतः स हीदं सर्वं बिभर्ति।[3]

अग्निर्वै भरतः स वै देवेभ्यो हव्यं भरति।[4]

प्राणो भरतः।[5]

इससे सूत्रात्मा वायु, आग्नेय अर्थात् धनावेशित कण तथा प्राण रश्मियों को भरत कहा जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण की उपर्युक्त कंडिका से स्पष्ट है कि इंद्र तत्व जब सूत्रात्मा वायु को अपने साथ संयुक्त करके प्रकाशमान होता है ऽअनूकाशः =अनुप्रकाशः।[6] किंवा वह मरुद् रश्मियों को आकर्षित करने में समर्थ होता है, उस ऐसी प्रक्रिया के कारण ही इस समय भी इस सृष्टि में प्राणप्रधान आग्नेय अर्थात् धनावेशित कण और तेज को प्राप्त करके सोमप्रधान अर्थात् ऋणावेशित कणों को आकर्षित करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। उन दोनों कणों के मध्य जो बल उत्पन्न होता है, वह धनंजय प्राण के बल की अपेक्षा किंवा सूत्रात्मा वायु द्वारा किसी कण को आच्छादित करने वाले बल की अपेक्षा एक चौथाई भाग ही होता है। इस बल के कारण ही मीडियेटर पार्टिकल्स दोनों कणों के मध्य एक्सचेंज होने लगते हैं।

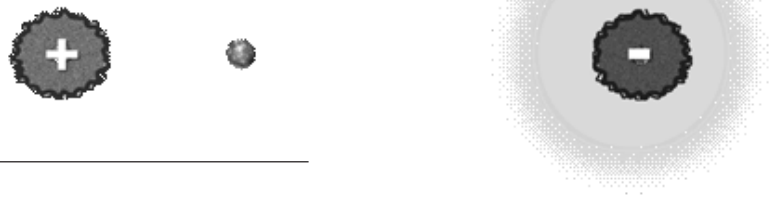

1. निरुक्तम् 7.12
2. निरुक्तम् 5.28
3. शतपथ ब्राह्मण 6.8.1.14
4. कौषीतकि ब्राह्मण 3.2
5. ऐतरेय ब्राह्मण 2.24
6. महर्षि दयानन्दयजुर्वेद भाष्य 25.2

इस चित्र में मीडियेटर पार्टीकल को देखा जा सकता है। यह पार्टिकल धनावेशित कण से उत्सर्जित विभिन्न प्राण रश्मियों तथा ऋणावेशित कण में से उत्सर्जित मरुद् रश्मियों के संघनन से बनता है। इसमें विद्यमान मरुद् रश्मियों pace के प्रति आकर्षण का भाव दर्शाती हैं तथा प्राण रश्मियां उस space के द्वारा आकर्षित होती हैं। इन मीडियेटर कणों के दोनों ओर भी प्राण व मरुद् रश्मियां की धाराएं विद्यमान होती हैं, जिनके प्रभाव से मीडियेटर पार्टीकल इधर-उधर दोलन करने लगता है। उसके गतिशील होने से धनावेशित व ऋणावेशित कणों के मध्य विद्यमान space भी धीरे-2 सिकुड़ने लगता है। जब यह space अधिकतम सीमा तक सिकुड़ जाता है, अर्थात् धनावेशित व ऋणावेशित कणों के मध्य न्यूनतम दूरी रह जाती है, तब मीडियेटर पार्टिकल्स अपनी अवयवभूत रश्मियों में बिखर कर लुप्त हो जाते हैं।

उपसंहार

आधुनिक विज्ञान बलों के स्वरूप व क्रियाविज्ञान के विशेष में अनेक अनसुलझी समस्याओं से ग्रस्त है। इधर वैदिक भौतिकी इस विषय में गम्भीर विज्ञान को दर्शाती है। बल के स्वरूप व क्रियाविज्ञान बहुत विस्तृत है, जिस पर पृथक् से एक पुस्तिका लिखी जा सकती है। इसके लिए 'वेदविज्ञान-आलोकः' का संपूर्ण अध्ययन करना भी उपयोगी है। मैंने यहां अति संक्षेप में केवल आवेशित कणों के आकर्षण की प्रक्रिया ही दर्शायी है। विद्युत् प्रतिकर्षण बल के साथ-2 अन्य विभिन्न प्रकार के बलों के क्रियाविज्ञान की यहां कोई चर्चा नहीं की है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (25-40) January-June 2019 ISSN 2277-4351

भारतीय वाङ्मय का वैज्ञानिक पक्ष

प्रमोद कुमार अग्रवाल

डी 9, लाल बहादुर नगर पूर्व,
जवाहरलाल नेहरु मार्ग, जयपुर 302017

1.0 प्राक्कथन

वेद एक अथाह सागर की तरह है। इसमें जितनी गहरी डुबकी लगायी जाती है, उतने ही आभायुक्त रत्न की प्राप्ति होती है। अनेक दार्शनिकों ने इसमें डुबकी लगायी है तथा भाषा शास्त्र, गणित, तर्कशास्त्र, खगोलशास्त्र, चिकित्सा शास्त्र आदि अनेक रत्नों को प्राप्त किया है।

अनादि काल से ही दार्शनिकों में इकाई की सत्ता को जानने की जिज्ञासा रही है। वेद में अनेक स्थानों पर इस विषय के संकेत भी मिलते हैं, जिन्हे व्यवस्थित कर हम किसी भी इकाई के मूल स्वभाव को समझ सकते हैं। किसी भी इकाई का मूल स्वभाव क्या है? इकाई का मूल स्वभाव उसकी आंतरिक संरचना में निहित है जिसे हम इकाई का कारण शरीर कहते हैं। और क्योंकि प्रत्येक इकाई का मूल कारण एक ही है, अतः इस कारण शरीर को ही ब्रह्म की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।

यहां एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि सिद्धांत रूप में जिसे हमनें अभी ब्रह्म कहा है,और जो कि प्रत्येक इकाई में समान रूप से स्थित है, वह क्या है? यह इकाई का अस्तित्व है। यहां इकाई तथा इकाई के अस्तित्व में अंतर है। अस्तित्व कारण है जिसके अनुसार कोई इकाई बन रही है।

यहां एक प्रश्न और भी उत्पन्न होता है कि यदि सभी इकाईयों में समान रूप से ब्रह्म उपस्थित है तो इकाईयों में विभिन्नता क्यों है। उत्तर भी सहज ही है। ब्रह्म मूलरूपसे दो विपरीत भागों में उपस्थित है। (1) प्रथम है कार्य-कारण का सिद्धांत, जो कि इस ब्रह्माण्ड की सभी विधाओं में समान रूप से लागू होता है। और इसे विज्ञान कहा जाता है। (2) द्वितीय है अनंत क्षमताओं का पुञ्ज। 'एकोऽहं बहु स्याम' के अंतर्गत ब्रह्म अनंत क्षमताओं में से सीमित क्षमताओं के अनगिनत पुञ्ज बना कर

इस लोक में भेजता है। और अनगिनत इकाईयों को जन्म देता है। इन अनगिनत इकाईयों में कार्य-कारण का सिद्धांत तो वही रहता है। परंतु उन इकाईयों में क्षमताएं अलग अलग प्रकार की होती हैं। इन अलग अलग प्रकार की क्षमताओं के कारण इकाईयों में विभिन्नता दिखाई देती है। प्रथम स्तर पर यह इकाईयां हमें कोस्मिक इकाई, भौतिक इकाई, प्राणिक इकाई, मनो इकाई (पशु), तथा बौद्धिक इकाई (मनुष्य) आदि के भिन्न भिन्न स्तरों में दिखाई देती हैं। उपर्युक्त स्तरों के अंतर्गत भी प्रत्येक स्तर पर अनगिनत विभिन्नताएं दिखाई देती हैं। और इस प्रकार एक ही ब्रह्म भिन्न भिन्न इकाईयों का कारण बन कर 'एक से अनेक' हो जाता है- (एकंवा विबभूव सर्वम्)

2.0 बहुस्तरीय सजीव इकाई

अनेक विद्वानों ने इकाईयों के दो स्तर माने हैं; जड़ व चेतन। पार्थिव इकाई को जड़ मानते हुए प्राणिक इकाई को चेतन माना गया है। यह मान्यता कार्य-कारण की समानता के सिद्धांत के विपरीत प्रतीत होती है। वस्तुतः जड़ व चेतन एक ही इकाई के दो अविभाज्य प्रभाग हैं। जड़ कच्ची सामग्री है जिसे असत् कहा जाता है तथा चेतन सजीव है और सत् है। पारमार्थिक रूप से सभी इकाईयां सजीव हैं और उसका प्रमाण हैउनका यथाक्रमसर्जन तथा संचालन।

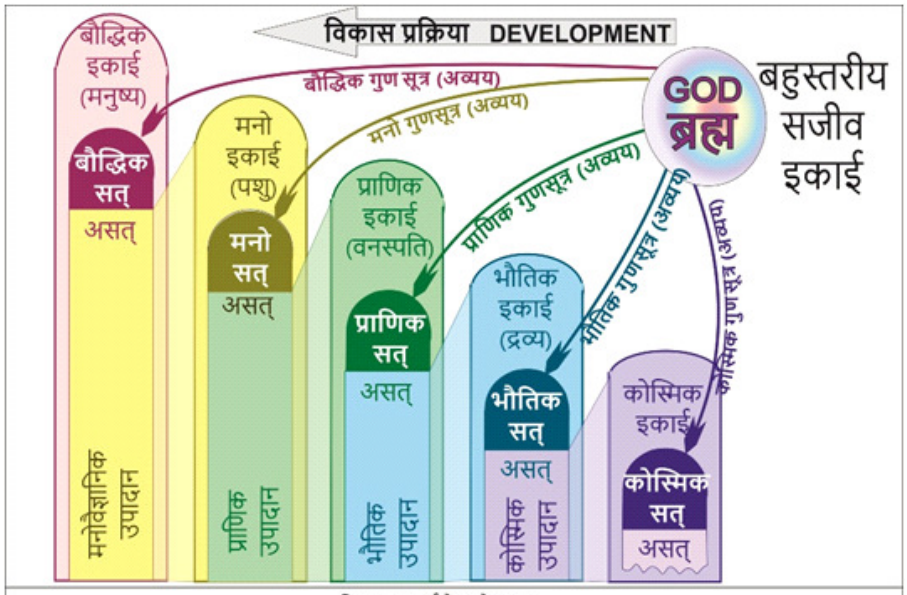

चित्र 1 - इकाई के अनेक स्तर

भिन्न भिन्न इकाईयों के सर्जन का यह क्रम निम्न प्रकार है। (चित्र 1)

1. कोस्मिक पदार्थ असत् के रूप में जब भौतिक सत् में समर्पित होता है तो भौतिक इकाई का जन्म होता है। (2) भौतिक पदार्थ असत् के रूप में जब प्राणिक सत् में समर्पित होता है तो प्राणिक इकाई का जन्म होता है। (3) प्राणिक पदार्थ असत् के रूप में जब मनो सत् में समर्पित होता है तो मनो इकाई का जन्म होता है। (4) मनो पदार्थ असत् के रूप में जब बौद्धिक सत् में समर्पित होता है तो बौद्धिक इकाई का जन्म होता है। (असद् वा इदमग्र आसीत्)

जिस क्रम मे विभिन्न इकाईयों का सर्जन होता है, उसी क्रम में इनका संचालन भी होता है। (1) कोस्मिक पदार्थों का संचालन भौतिक इकाई करती है। (2) भौतिक पदार्थों का संचालन प्राणिक इकाई करती हैं। (3) प्राणिक पदार्थों का संचालन मनो इकाई करती हैं। (4) मनो-अनुभूतियों का संचालन बौद्धिक इकाई करती हैं। इस प्रकार प्रत्येक इकाई अपने अपने स्तर पर सजीव हैं।

उपलब्ध वैदिक साहित्य में मनुष्य को ही आधार मान कर आत्मसत्ता का विश्लेषण किया गया है। तथा दर्शन को मनोवैज्ञानिक स्तर पर घटाया गया है। उपर्युक्त स्पष्टीकरण के बाद हम उपलब्ध मनोवैज्ञानिक दर्शन को भौतिक दर्शन के रूप में भी घटा सकते हैं। और इस प्रकार हम वैदिक दर्शन के जरिये भौतिक विज्ञान का नया अध्याय खोल सकते हैं। यह नया भौतिक विज्ञान आधुनिक विज्ञान की उन पहेलियों को सुलझाता है जहां आधुनिक विज्ञान अपने आप को अक्षम पाता है।

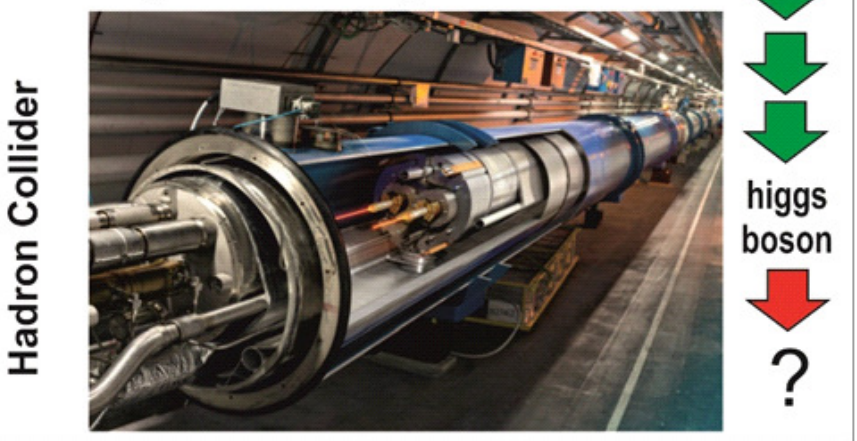

चित्र 2 - आधुनिक विज्ञान में मूल इकाई की संरचना

3.0 आधुनिक विज्ञान में इकाई की संरचना

आधुनिक वैज्ञानिक इस बात पर तो सहमत हैं कि पदार्थ के मूलभूत गुण उसकी संरचना में निहित होते हैं परंतु संरचना का रूप क्या है इस बात से वे पूरी तरह अनभिज्ञ हैं। पदार्थ का मूल स्वरूप क्या है? यह जानने के लिये आधुनिक वैज्ञानिकों ने विशाल मशीनों का निर्माण किया है जिसकी सहायता से वो भौतिक कण को तोड़ते तोड़ते हिग्स बोसोन तक पहुंच गये हैं। परंतु इस प्रकार हम भौतिक कण को तोड़ने से कारण शरीर तक कभी भी नहीं पहुंच सकते, कण तक ही पहुंचेंगे। और यह प्रश्न अनुत्तरित ही बना रहेगा कि आखिर इस अंतिम कण के सर्जन का कारण क्या है? (चित्र 2)

4.0 वैदिक विज्ञान में इकाई की संरचना

भारतीय दर्शन जिस प्रकार आत्म सत्ता की विवेचना करता है, उससे पूर्ण 'पार्टीकल फिजिक्स' प्रकट हो जाती है। भारतीय दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्म सत्ता या मूल कण (पार्टीकल) के चार घटक हैं।

(1) परात्पर- परात्पर मूल ब्रह्म है। आध्यात्म के अनुसार यह क्रिया-कारण के सिद्धांत का कर्ता है, तथा विज्ञान के अनुसार यह क्रिया-कारण के सिद्धांत की विवेचना है। प्रत्येक इकाई चाहे वह कास्मिक हो, भौतिक हो, वानस्पतिक हो, या मनोवैज्ञानिक हो, सब में एक ही कारण-क्रिया का सिद्धांत लागू होता है। पदार्थ, आकाश, काल आदि सभी इस परात्पर का वितान भाव है। 'एकोहं बहुस्याम्' के अंतर्गत यह अनंत क्षमताओं का पुञ्ज है, तथा एकत्व रूपी कारण-क्रिया का संचालक है।

(2) अव्यय पुरुष- प्रत्येक इकाई में जो क्षमता स्थापित है, उसे अव्यय पुरुष कहते हैं। यह अव्यय पुरुष प्रत्येक इकाई का आधार भूत कारण तथा या बीज है, जो कि ससीम अनुवांशिक सूत्रों का व्यवस्थित पुञ्ज है। यह अनुवांशिक ससीम सूत्र ही इकाई को परिभाषित करते हैं। प्रत्येक सूत्र के पांच आयाम हैं। सूत्र अपनें पांच आयामों में विभाजित हो अव्यय के पांच कोशों का निर्माण करते हैं। यह कोश हैं अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, आनंदमय कोश, विज्ञानमय कोश, तथा मनोमय कोश। इसमें प्रथम चार कोश इकाई की क्षमता को स्पष्ट करते हैं तथा पांचवां कोश उद्दीपन को दिशा देता है। यह पांचों कोश इकाई की अनुवांशिक क्षमता को परिभाषित करते हैं।

(3) अक्षर पुरुष- मनोमय कोश जैसे ही आत्मा को स्वीकार करता है, बाकी चारों कोशों में उद्दीपन शुरू हो जाता है। यह कोश माया का अंतर्गमन, संग्रहण,

तथा बहिर्गमन करने लगते हैं। कोशों में संग्रहण से इकाई का स्वभाव निर्मित होने लगता है। इसको अक्षर पुरुष कहते हैं। स्वभाव ज्ञान व अनुभूति की विभिन्नसंगतियों के जोड़े होते हैं। यदि पीले रंग (देव) के साथ खुशी (पितृ) की संगति कोशों में संग्रहित हो जाती है तो भविष्य में हमें पील रंग ही पसंद आयेगा। यह स्वभाव क्षरित नहीं होता, अतः अक्षर कहलाता है।

(4) क्षर पुरुष– प्रवाह में अंतर्गमित, संग्रहित, तथा बहिर्गमित होने वाले संकेत ही क्षर पुरुष कहलाते हैं।यहां तक आत्म सत्ता का गठन पूर्ण हो जाता है।

उपर्युक्त चार घटकों में से 'परात्पर' का वर्णन किया जा चुका है, तथा 'अक्षर पुरुष' विषय से सम्बंधित नहीं हैं। हम यहां अव्यय तथा 'क्षर पुरुष' का वर्णन करेगें।

5.0 ब्रह्म तथा अव्यय पुरुष

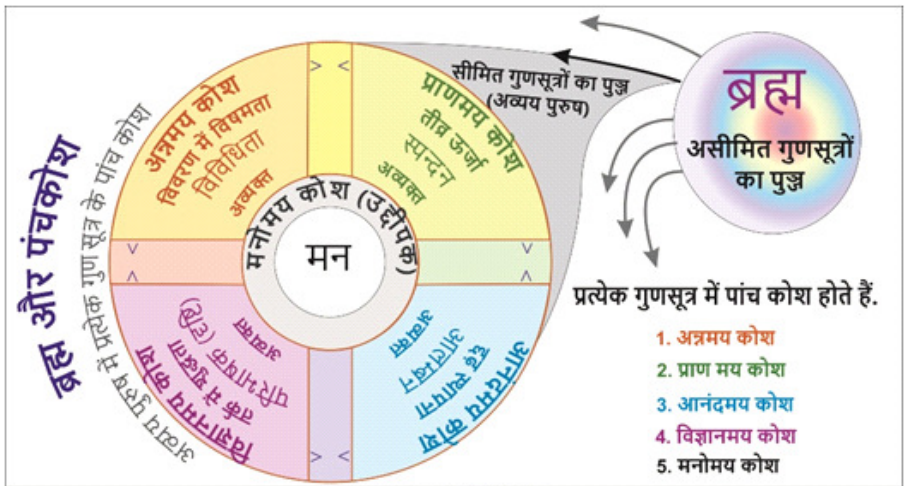

चित्र 3 - अव्यय पुरुष की संरचना

ब्रह्म या परात्पर असीम गुणसूत्रों का पुञ्ज है, जो कि उनमें से ससीम गुणसूत्रों के अनगिनित पुञ्जों को इस लोक में भेजता है। यह ससीम गुणसूत्रों से ही अनगिनत इकाईयों के कारण शरीर बनते हैं। भारतीय चिंतन में अनेक स्थानों पर मूल ब्रह्म को परात्पर तथा ससीम गुणसूत्रों के पुञ्जों को अव्यय पुरुष कहा गया है। उपनिषद् स्पष्ट रूप से अव्यय पुरुष को पंचकोशात्मक होने की घोषणा करते हैं। अर्थात् प्रत्येक गुण-सूत्र पांच कोशों से युक्त होता है। जिन्हें हम अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, आनंदमय कोश, विज्ञानमय कोश, तथा मनोमय कोश कहते हैं। इनमें अन्नमय कोश विविधता, प्राणमय कोश में स्पंदन, विज्ञानमय कोश में विश्लेषण, आनंदमय कोश में आलम्बन, तथा मनोमय कोश में उद्दीपन रहता है। (चित्र 3)

व्यवहारिक रूप से यह पंचकोशात्मक अव्यय पुरुष क्या है? प्राणिक इकाई के उदाहरण से हम इस को स्पष्ट कर सकते हैं। प्रत्येक प्राणिक इकाई अनंत कोशिकाओं से निर्मित होती है। प्रत्येक कोशिका के दो भाग होते हैं, एक है कोशिका-पिण्डच (cell body) तथा दूसरा है केंद्रक (nucleus)। दोनों ही भौतिक पदार्थों से बने हैं। केंद्रक के अंतः में डी.एन.ए. (DNA_ deoñyribonucleic acid) होता है जो कि गुणसूत्रों का व्यवस्थित पुञ्ज है। यह डी.एन.ए. ही प्राणिक इकाई को अस्तित्व प्रदान करता है। डी.एन.ए. के भिन्न भिन्न गुणसूत्र इकाई के भिन्न भिन्न क्षमताओं को दर्शाते हैं। अतः प्रत्येक गुणसूत्र पांचों कलाओं से युक्त होता है। एक प्राणिक इकाई में उपलब्ध सभी डी.एन.ए. समान होते हैं। दो विभिन्न प्राणिक इकाईयों में यह डी.एन.ए. भिन्न-भिन्न होते हैं अतः उन इकाईयों की क्षमताएं भी भिन्न भिन्न होती हैं।

उपर्युक्त उदाहरण प्राणिक इकाई का है। इस उदाहरण को भौतिक इकाई में भी घटा सकते हैं। हम यह मान सकते हैं कि प्रत्येक मूल भौतिक इकाई के दो भाग होते हैं, एक है कणपिण्डह (Particle body) तथा दूसरा है केंद्रक (nucleus)। दोनों ही कोस्मिक पदार्थों से बने हैं। केंद्रक के अंत में गुणसूत्रों का व्यवस्थित पुञ्ज है। यह व्यवस्थित पुञ्ज ही भौतिक इकाई को अस्तित्व प्रदान करता है। और गुणसूत्र ही उसका स्वभाव है। हम यह तो नहीं समझ सकते कि यह मूल भौतिक इकाई हिग्स बोसोन है या इससे भी कोई सूक्ष्म कण है, परंतु जो भी कण है उसकी संरचना समझ सकते हैं। और यह संरचना ही भौतिक पदार्थ के स्वभाव से अवगत कराती है। भारतीय वाङ्मय के अनुसार यह संरचना अव्यय में निहित है।

6.0 अव्यय पुरुष की संरचना

वेदांत में अव्यय ब्रह्म के पांच कोश बताये हैं। 1. अन्नमय कोश, 2. प्राणमय कोश, 3. आनंदमय कोश, 4. विज्ञानमय कोश तथा 5. मनोमय कोश। इनमें प्रथम चार इकाई के गुणों को स्थापित करते हैं तथा पांचवां कोश प्रथम चारों में समन्वित उद्दीपन प्रदान करता है। प्रत्येक कोश में क्रमशः विविधिता, स्पंदन, आलम्बन, दृष्टि तथा उद्दीपन रहते हैं। निम्न लिखित वर्णन भौतिक कण (पार्टीकल) पर आधारित है (चित्र 3) -

(1) अन्नमय कोश- अन्नमय कोश भौतिक अस्तित्व के चार आयामी सूत्र का एक आयाम है। संकेत सृजन के संदर्भ में अन्नमय कोश संकेत के वैविध्यपूर्ण, आलम्बरहित, अपरिभाषित, तथा स्पंदन रहित प्रभाग को अंतर्वाह, संग्रह, तथा बहिर्वाह करता है। संकेत प्रवाह के संदर्भ में यह दृश्यता क्षेत्र और विस्तारण क्षेत्र का

सृजन करती है।

(2) प्राणमय कोश– प्राणमय कोश भौतिक अस्तित्व के चार आयामी सूत्र का एक आयाम है। संकेत सृजन के संदर्भ में प्राणमय कोश संकेत के स्पंदनपूर्ण, वैविध्यरहित, आलम्बरहित, तथा अपरिभाषित प्रभाग को अंतर्वाह, संग्रह, तथा बहिर्वाह करता है। संकेत प्रवाह के संदर्भ में यह बल क्षेत्र और विस्तारण क्षेत्र का सृजन करती है।

(3) आनंदमय कोश– आनंदमय कोश भौतिक अस्तित्व के चार आयामी सूत्र का एक आयाम है। संकेत सृजन के संदर्भ में आनंदमय कोश संकेत के आलम्ब पूर्ण, स्पंदन रहित, वैविध्य रहित तथा अपरिभाषित प्रभाग को अंतर्वाह, संग्रह, तथा बहिर्वाह करता है। संकेत प्रवाह के संदर्भ में यह बल क्षेत्र और संकुचन क्षेत्र का सृजन करती है।

(4) विज्ञानमय कोश– विज्ञानमय कोश भौतिक अस्तित्व के चार आयामी सूत्र का एक आयाम है। संकेत सृजन के संदर्भ में विज्ञानमय कोश संकेत के परिभाषित, आलम्बरहित, स्पंदन रहित तथा वैविध्य रहित प्रभाग को अंतर्वाह, संग्रह, तथा बहिर्वाह करता है। संकेत प्रवाह के संदर्भ में यह दृश्य क्षेत्र और संकुचन क्षेत्र का सृजन करती है।

(5) मनोमय कोश– मनोमय कोश भौतिक अस्तित्व का पांचवां आयाम है। मनोमय कोश छवि के अन्य कोशों में स्थित विषमता का निवारण करने हेतु अंतर्क्रिया का उद्दीपन करता है। संकेत प्रवाह के संदर्भ में यह शून्य अंतरिक्ष में विभिन्न क्षेत्रों का सृजन करती है।

7.0 संकेत का सर्जन

दर्शनके अनुसार, जीवन के प्रत्येक प्रवाह (प्राण) को पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है: देव प्राण, पितृ प्राण, ऋषि प्राण, गन्धर्व प्राण, और असुर प्राण। ये पांच भाग अविभाज्य हैं, लेकिन व्यक्ताव्यक्त हैं। (चित्र 4)

(1) देवप्राण – अन्नमय कोश (वैविध्यपूर्ण) व विज्ञानमय कोश (परिभाषित) के मध्य अंत:प्रक्रिया के फलस्वरूप स्पष्टता का उदय होता है, जो तीन प्रकार (शुद्धता; आकृति; विवरण) की हो सकती है। जब हम वायु देवता कहते हैं, तो इसका तात्पर्य है कि हम वायुतत्व की स्पष्टता की बात कर रहे हैं। जब हम अग्निदेवता कहते हैं, तो इसका तात्पर्य है कि हम अग्नितत्व की स्पष्टता की बात कर रहे हैं। यह कहा जाता है कि सूर्य हमारे लिए गौ (गऊ) उत्सर्जित कर रहा है, और सभी देवता गऊ के शरीर में रह रहे हैं, वाक्यांश का अर्थ है। ज्ञान पुञ्जचेतना

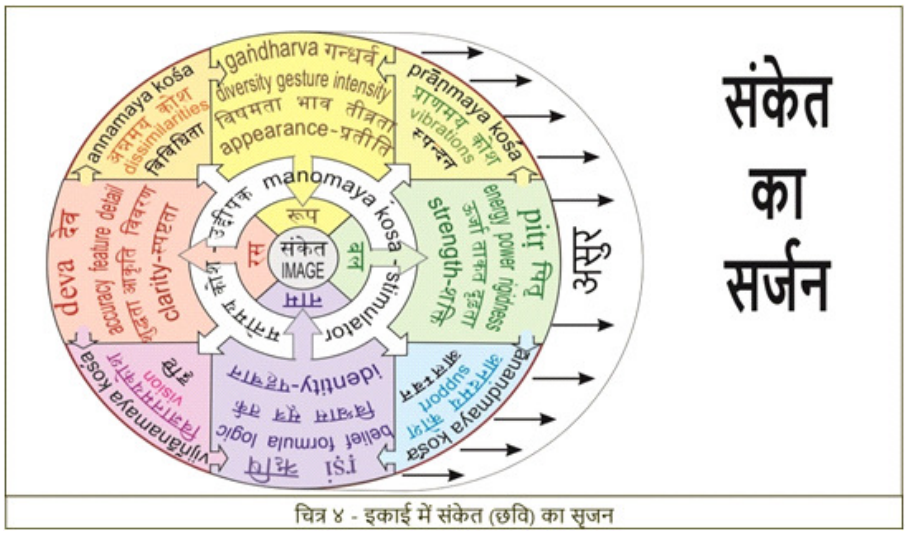

चित्र ४ - इकाई में संकेत (छवि) का सृजन

का उत्सर्जन कर रहा है। सभी ज्ञान चेतना के शरीर में रहते हैं। 'शक्ति' के अभाव में 'स्पष्टता' का अर्थ है जैसे बिना स्याही के आकृति बनाना, जो कि सम्भव नहीं है। यहां स्पष्टता का अर्थ है भ्रांति रहित स्पष्टता।

(2) पितृ प्राण– प्राणमय कोश (स्पंदनपूर्ण) व आनंदमय कोश (आलम्बपूर्ण) के मध्य अंत:प्रक्रिया के फलस्वरूप एक शक्ति का उदय होता है, जो तीन प्रकार (ऊर्जा; शक्ति; दृढ़ता) की हो सकती है। आलम्बन हमारे जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। यह हमारे आंतरिक भय को खुशी और सुरक्षा प्रदान करता है। यदि बच्चे को माता-पिता ने बिना शर्त सुरक्षा प्रदान की है, तो बचपन में ही आलम्बन पा लिया जाता है; यह बिना शर्त सुरक्षा हमारे उपचेतन में शिवमाया के रूप में पितृ प्राण बनाती है। बचपन के बाद, जब हम वयस्क होते हैं, तो पितृ प्राण हमें चिंता व भय से बचाता है। यदि हम अपने भय का सामना नहीं कर सकते, तो हम एक मूर्ति की पूजा करते हैं, जहां मूर्ति को परोक्ष रूप में परम पिता मान लेते हैं। परम पिता, अर्थात् उपचेतन में स्थित पिता के संरक्षण का अनुभव कर हम अपने वर्तमान भय को दूर करने का प्रयास करते हैं। 'स्पष्टता' के अभाव में 'शक्ति' का अर्थ है जैसे बिना दिशा के बल प्रयोग, जो कि सम्भव नहीं है। यहां 'शक्ति' का अर्थ है स्पंदनों की एकाग्रता।

(3) गन्धर्व प्राण– अन्नमय कोश (वैविध्यपूर्ण) व प्राणमय कोश (स्पंदनपूर्ण) के मध्य अंत:प्रक्रिया के फलस्वरूप एक प्रतीति का उदय होता है, जो तीन प्रकार

(विविधिता; भाव; तीव्रता) का हो सकती है। यहां प्रतीति अस्थापित व अव्यवस्थित है। कोई भी प्रतीति हो, ऋषि के अंगीकरण के अभाव में अपनी पहचान को प्राप्त नहीं हो सकती, तथा सूत्र के अभाव में अपने आप को परिभाषित नहीं कर सकती। भौतिक संसार में देखें तो रेडियो पर अनेक संकेत (अव्यवस्थित-प्रतीति) आ रहे हैं, परन्तु हम सुनते वही हैं जो हमारा रिसीवर (ऋषि-सूत्र) स्वीकार कर रहा है। अलग रिसीवर (ऋषि-सूत्र) से अलग स्टेशन स्वीकार किया जा सकता है। व्यावहारिक जीवन में गन्धर्व भाव प्रदर्शन को कहते हैं। संगीत, रंग, खेल, और सुंदरता, अनेक प्रकार के भाव होते हैं। सचिन तेंदुलकर क्रिकेट स्टार है, अमिताभ बच्चन अभिनय स्टार है, ए.आर. रहमान संगीत स्टार है। हमारे समय के सभी महान गन्धर्व हैं। आकाश में चमकने वाला सूर्य एक भौतिक स्टार है, जो ऊर्जा, तीव्रता, भाव, दृश्यता, व विविधिता, सबको प्रस्तुत करता है। पृथ्वी की भौतिक इकाईयां ऋषि भाव से उस प्रदर्शन को अङ्गीकृत करती हैं।

(4) ऋषि प्राण- विज्ञानमय कोश (परिभाषित) व आनंदमय कोश (आलम्बपूर्ण) के मध्य अंत:प्रक्रिया के फलस्वरूप एक नाम (पहचान) का उदय होता है, जो तीन प्रकार (विश्वास; सूत्र; तर्क) का हो सकता है। ऋषि तर्क द्वारा विविधिता मे से पहचान का चयन करता है तथा विश्वास द्वारा तीव्रता को आलम्बन देता है। इस प्रकार वह 'पहचान को आलम्बन' देता है तथा 'रूप' को 'नाम' प्रदान करता है। व्यावहारिक रूप से ऋषि प्राण जीवन में आचार संहिता, दिशानिर्देश, नैतिकता, पहचान और धर्म प्रदान करता है।

(5) असुर प्राण- विज्ञानमय कोश (परिभाषित), आनंदमय कोश (आलम्बपूर्ण), अन्नमय कोश (वैविध्यपूर्ण) व प्राणमय कोश (स्पंदनपूर्ण) के मध्य अंत:प्रक्रिया के अभाव के फलस्वरूप व्यक्ताव्यक्त कुछ भी उदय न होकर मात्रा का उदय होता है। संकेत में मात्रा के अभाव में कुछ भी प्रकट नहीं हो सकता। सचिन तेंदुलकर क्रिकेट बहुत अच्छा खेल सकते हैं, लेकिन अगर खेलने की मात्रा शून्य है, तो कोई उद्देश्य नहीं है। भारतीय पौराणिक कथाओं में, असुर शब्द का उपयोग नकारात्मक पहलू में किया जाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि भारतीय पौराणिक कथाओं में, गुण महत्वपूर्ण हैं न कि मात्रा। हम जीवन की मात्रा के साथ नहीं जीना चाहते हैं, हम जीवन को गुणवत्ता के साथ जीना चाहते हैं। उदाहरण के लिये जब हम गेहूं की बात कर रहे होते हैं को गेहूं की तात्विक विवेचना करेगें, गेहूं कितने किलो है, यह चर्चा नहीं होगी।

8.0 इकाई में निरंतर चलने वाली 'यज्ञ प्रक्रिया'

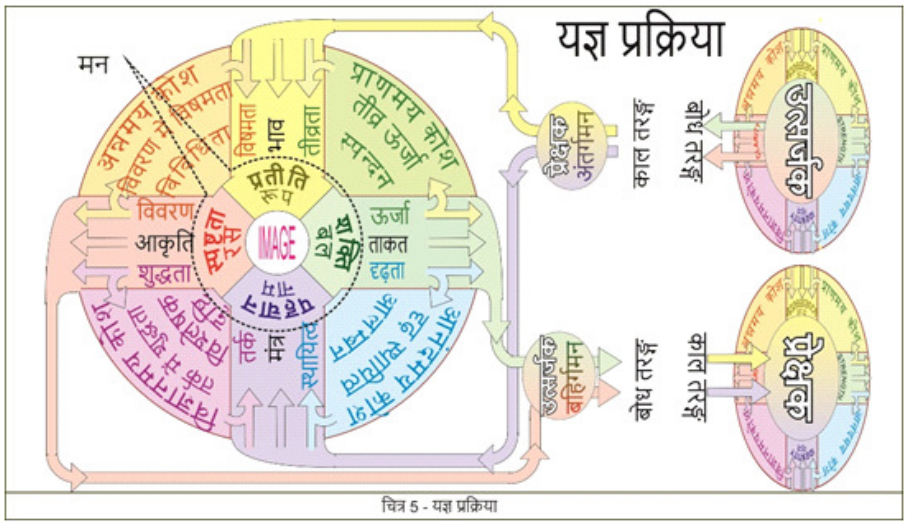

चित्र 5 - यज्ञ प्रक्रिया

उपर्युक्त पाचों प्राण न केवल इकाई में संकेत की स्वीकृति, संकेत का स्मृतिकरण, तथा संकेत के उत्सर्जन के लिये उत्तरदायी हैं। इस प्रकार होने वाली सारी प्रक्रिया को 'यज्ञ प्रक्रिया' कहते हैं। जब हम किसी संकेत का अंतर्गमन करते हैं तो प्रत्येक संकेत इकाई के मन पर पहुंच कर चार अंशों में विभाजित हो जाता है। यह चार अंश हैं, विषमता (विविधिता), तीव्रता (स्पंदन), दृढ़ता (आलम्बक), तथा शुद्धता (विश्लेषक)। इस प्रक्रिया में चारों कोश भी सम्बंधित अंश (विविधिता, स्पंदन, आलम्बक, विश्लेषक) प्रेषित करते हैं। इस प्रकार मन के मंच पर अनगिनित अंश उपस्थित हो जाते हैं। मनन प्रक्रिया में चारों प्रकार के अंश युक्तिपूर्ण संकेत-अंशों का चयन कर समुच्चय बनाते हैं, जिसे बोध (perception) कहा जाता है। मन में जो भी बोध बनता है, उनकी एक प्रतिलिपि पुनः विभाजित होकर आत्मसत्ता के चारों कोशों में संकलित (स्मृत) हो जाती है तथा दूसरी प्रतिलिपि अभिव्यक्ति के लिये बाहर उपलब्ध हो जाती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में मनोमय कोश मन में उद्दीपन का कार्य करता है। इस प्रकार पंचकोश संकेतों का संकलन तथा नये बोध का सर्जन करते हैं। (चित्र 5)

9.0 क्षर पुरुष

जो पंचकोश संकेत को संकलन तथा उसके पुनर्निर्माण का कार्य करते हैं, वही पंचकोश आकाश तत्व उत्पन्न कर संकेत को प्रवाहित भी करते हैं। प्रत्येक

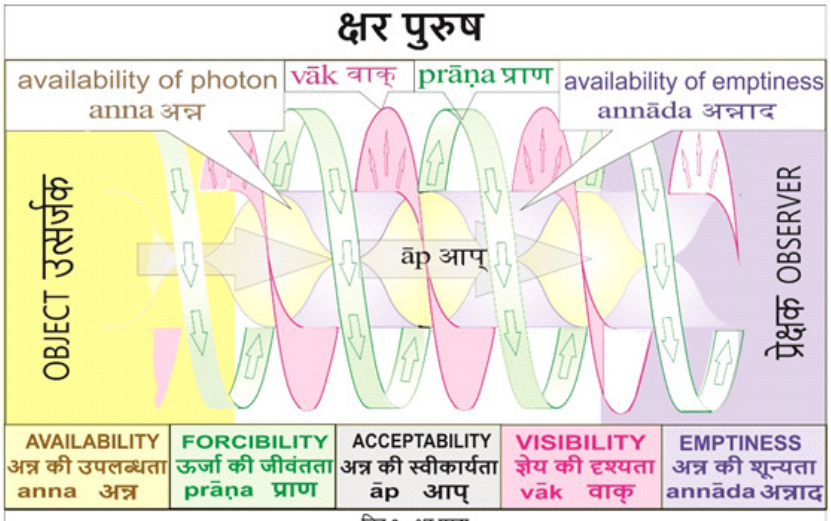

चित्र 6 - क्षर पुरुष

संकेत उत्सर्जक सत्ता से क्षरित हो कर प्रेक्षक सत्ता तक पहुँचता है। संकेत के प्रवाह का कर्ता क्षर पुरुष कहलाता है। क्षर पुरुष के पांच प्रभाग माने गये हैं। 1. उत्सर्जक में ज्ञेय की दृश्यता 'वाक्' कहलाती है। 2. उत्सर्जक में ऊर्जा की जीवंतता 'प्राण' कहलाती है। 3. उत्सर्जक में अन्न की उपलब्धता 'अन्न' कहलाती है। 4. प्रेक्षक में अन्न की शून्यता 'अन्नाद' कहलाती है। 5. प्रेक्षक द्वारा अन्न की स्वीकार्यता 'आप्' कहलाती है। (चित्र 6)

10.0 प्रवाह के क्षेत्र

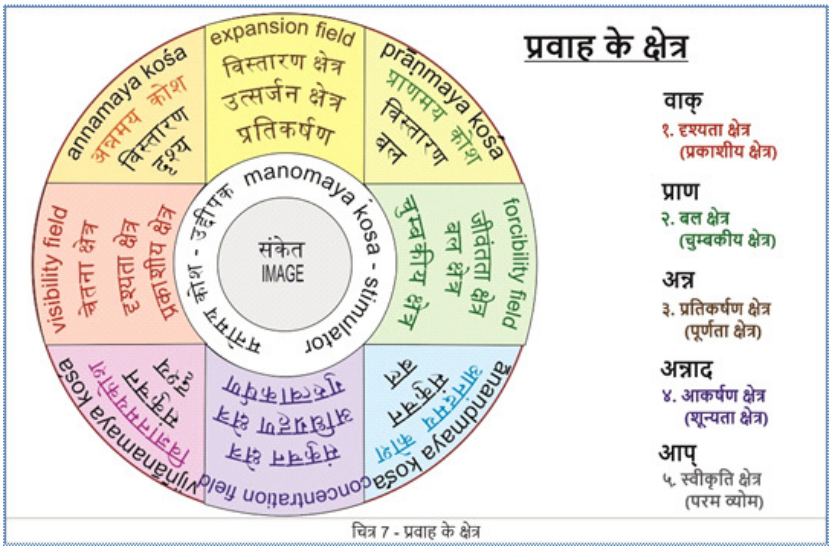

चित्र 7 - प्रवाह के क्षेत्र

वस्तुतः यह पांचों का प्रवाह क्षेत्र हैं, जिनका निर्माण अव्यय पुरुष के पंचकोशों द्वारा किया जाता है। 1. अन्नमय कोश व विज्ञानमय कोश से दृश्यता क्षेत्र उत्पन्न होता है, जिसको 'वाक्' कहा गया है। 2. प्राणमय कोश व आनंदमय कोश से बल क्षेत्र उत्पन्न होता है, जिसको 'प्राण' कहा गया है। 3. अन्नमय कोश व प्राणमय कोश से विस्तारण या प्रतिकर्षण क्षेत्र उत्पन्न होता है, जिसको 'अन्न' कहा जा रहा है। 4. आनंदमय कोश व विज्ञानमय कोश से संकुचन या आकर्षण क्षेत्र उत्पन्न होता है, जिसको 'अन्नाद' कहा जा रहा है। 5. उपरोक्त चारों के मध्य परम व्योम रहता है जो अन्य चारों को स्वीकृति प्रदान करता है, जिसको 'आप्' कहते हैं। (चित्र 7)

11.0 संकेत का प्रवाह

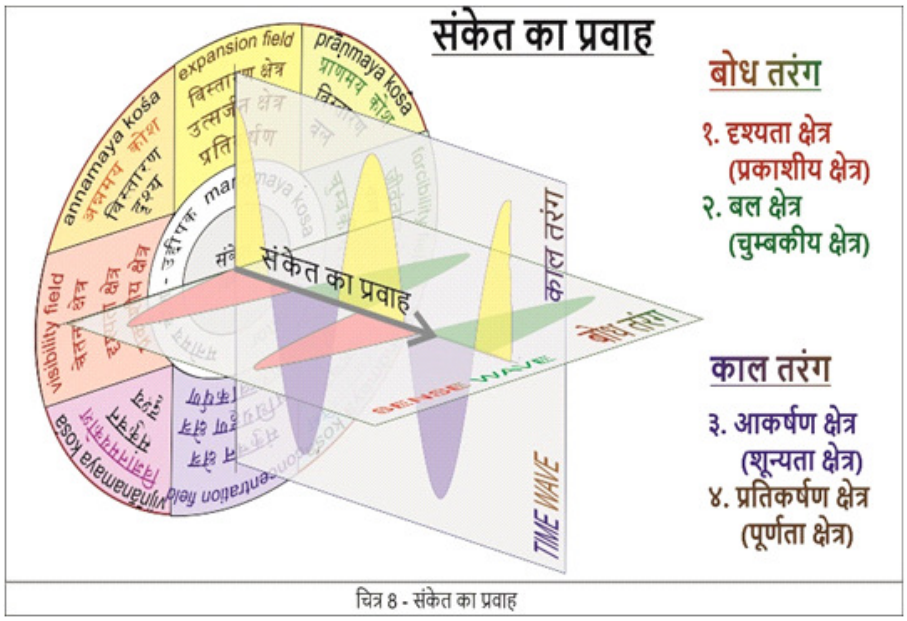

चित्र 8 - संकेत का प्रवाह

संकेत के प्रवाह के दो माध्यम हैं। (1) प्रथम है बोध तरंग जो कि दृश्यता क्षेत्र तथा बल क्षेत्र से मिल कर बनती है। (2) द्वितीय है काल तरंग जो आकर्षण क्षेत्र तथा प्रतिकर्षण क्षेत्र से मिल कर बनती है। (चित्र 8)

12.0 अंतरिक्ष में सक्रियता

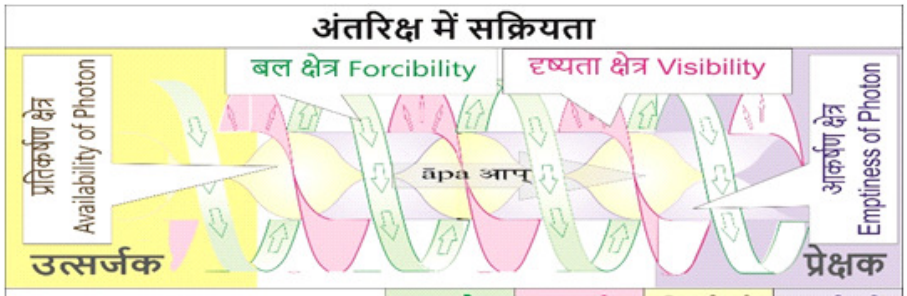

अंतरिक्ष में सक्रियता	बल क्षेत्र FORCIBILITY	दृश्यता क्षेत्र VISIBILITY	प्रतिकर्षण क्षेत्र AVAILABILITY	आकर्षण क्षेत्र EMPTINESS
प्रकाश का प्रवाह E M Wave (दृश्य सक्रिय काल तरंग)	निष्क्रिय	सक्रिय	सक्रिय काल तरंग time wave	सक्रिय
चुम्बकीय प्रवाह Magnetic Flux (बल सक्रिय काल तरंग)	सक्रिय	निष्क्रिय	सक्रिय काल तरंग time wave	सक्रिय
गुरुत्वकर्षण Gravitation (आकर्षण सक्रिय बोध तरंग)	सक्रिय बोध तरंग sense wave	सक्रिय	निष्क्रिय	सक्रिय
प्रतिकर्षण Repulsion (प्रतिकर्षण सक्रिय बोध तरंग)	सक्रिय बोध तरंग sense wave	सक्रिय	सक्रिय	निष्क्रिय

चित्र 9 - अंतरिक्ष के चार प्रमुख विषय

उपर्युक्त चार क्षेत्रों से भौतिक विज्ञान के चार प्रसंग स्पष्ट हो जाते हैं। उपर्युक्त चित्र के अनुसार (1) प्रकाशीय-प्रवाह दृश्यता क्षेत्र की काल तरंग है। (2) चुम्बकीय-प्रवाह बल क्षेत्र की काल तरंग है। (3) गुरुत्वाकर्षण आकर्षण क्षेत्र की बोध तरंग है, तथा (4) प्रतिकर्षण प्रतिकर्षण-क्षेत्र की बोध तरंग है। (चित्र 9)

अंतरिक्ष में अन्य प्रकार के कास्मिक पदार्थ				
अन्य कास्मिक पदार्थ	दृश्यता क्षेत्र visibility field	बल क्षेत्र forcibility field	आकर्षण क्षेत्र emptiness field	प्रतिकर्षण क्षेत्र fullness field
दृश्यता की उपलब्धता fullness of visibility (C M B)	सक्रिय active	निष्क्रिय inactive	निष्क्रिय inactive	सक्रिय active
दृश्यता का अवशोषण emptiness (absorption) of visibility	सक्रिय active	निष्क्रिय inactive	सक्रिय active	निष्क्रिय inactive
संकुचन का बल forcible emptiness (dark matter)	निष्क्रिय inactive	सक्रिय active	सक्रिय active	निष्क्रिय inactive
फैलाव का बल forcible expansion (dark energy)	निष्क्रिय inactive	सक्रिय active	निष्क्रिय inactive	सक्रिय active

चित्र 10 - अन्य कास्मिक पदार्थ

13.0 अंतरिक्ष के अन्य चार प्रसंग

इसके अलावा इन चार क्षेत्रों से दृश्यता की उपलब्धता (CMB; कॉस्मिक माइक्रोवेव बैक ग्राउंड), दृश्यता का अवशोषण, डार्क मैटर, तथा डार्क एनर्जी को भी स्पष्ट किया जा सकता है। (चित्र 10)

14.0 प्रवाह क्षेत्र व आधुनिक विज्ञान

इस प्रकार आप देखेंगे कि मात्र चार प्रकार के क्षेत्रों के जरिये अंतरिक्ष में होने वाले तकरीबन सभी प्रसंगों को समझा जा सकता है। आधुनिक विज्ञान प्रकाश के प्रवाह को मानता है, चुम्बकीय प्रवाह मानता है, गुरुत्वाकर्षण भी मानता है, परंतु प्रतिकर्षण नहीं मानता। आधुनिक विज्ञान इस प्रकार चार क्षेत्रों की कल्पना भी नहीं करता। जो एक ही इकाई में से अविभाज्य रूप से प्रकट हो रहे हैं, और प्रकाश तरंग तथा गुरुत्वाकर्षण में सम्बंध स्थापित कर रहे हैं। यहां एक बात का उल्लेख करना अति आवश्यक है। ऐसा कहा जाता है कि अल्बर्ट आइंस्टीन ने अपनी उम्र के अंतिम 30 वर्ष एक यूनीफाइड थ्योरी को खोजने में लगाये जहां वह प्रकाश तरंग तथा गुरुत्वाकर्षण में सम्बंध स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे। वैदिक विज्ञान के जरिये जब हम नये पार्टीकल फिजिक्स की रचना करते हैं तो यह सम्बंध हमें स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है।

15.0 आधुनिक विज्ञान की सीमाएं

(1) आधुनिक विज्ञान प्रतिकर्षण क्षेत्र को नहीं मानता।

(2) आधुनिक विज्ञान भौतिक तथा कोस्मिक संस्थाओं में अंतर नहीं करता।

(3) आधुनिक विज्ञान सत् तथा असत् के भेद को नहीं मानता।

(4) आधुनिक विज्ञान ऐसे तथ्यों पर आधारित है, जो तर्कों पर आधारित नहीं हैं; यही कारण है कि आधुनिक विज्ञान अनेक अनसुलझी पहेलियों को जन्म देता है।

13.0 प्रतिकर्षण के प्रमाण

आधुनिक विज्ञान 'प्रतिकर्षण' को नहीं मानता। यहां हमनें प्रतिकर्षण के तीन प्रमाण उपलब्ध कराये हैं।

13.0 प्रतिकर्षण के प्रमाण

आधुनिक विज्ञान 'प्रतिकर्षण' को नहीं मानता। यहां हमनें प्रतिकर्षण के तीन प्रमाण उपलब्ध कराये हैं।

1. धूमकेतु की पूंछ- धूमकेतु की पूंछ का वह हिस्सा जिसका तापमान अत्यधिक होता है, यह हमेषा सूर्य के विपरीत दिशा में होता है। यह तापमान के कारण होने वाले प्रतिकर्षण के कारण है। (चित्र 11)

2. प्लाज्मा का उत्सरण- सूर्य का द्रव्यमान अत्यधिक होता है, फिर भी

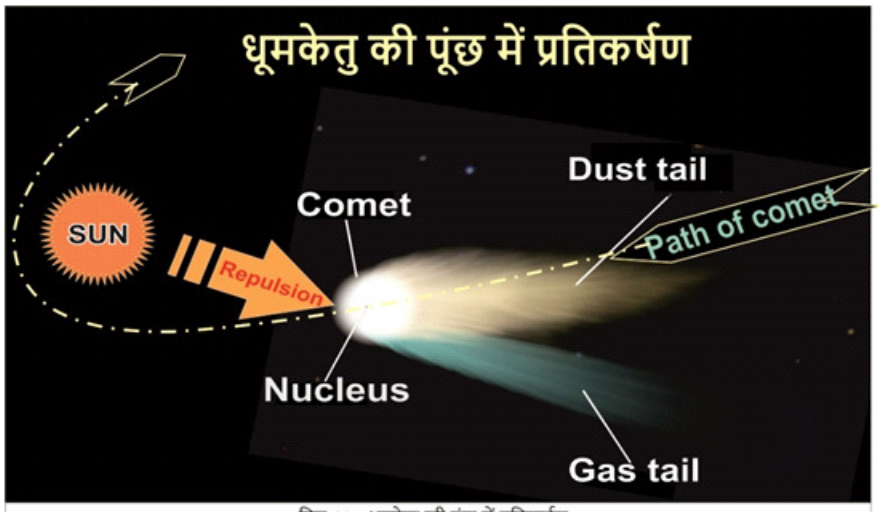

चित्र 11 - धूमकेतु की पूंछ में प्रतिकर्षण

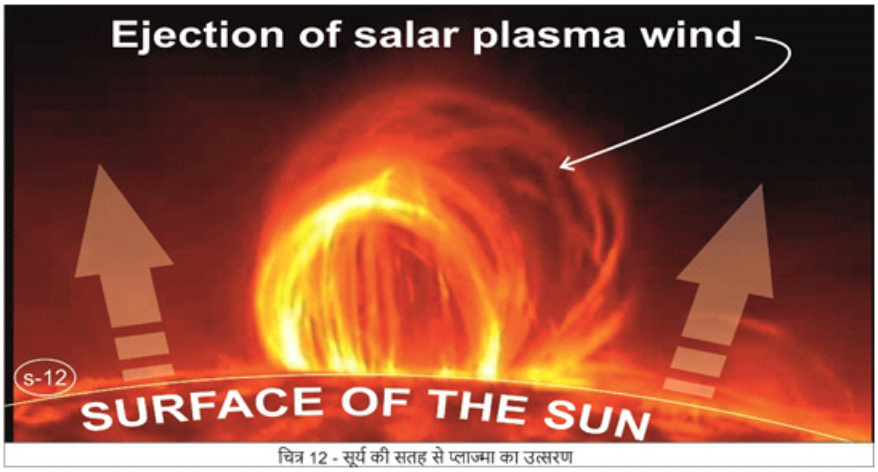

चित्र 12 - सूर्य की सतह से प्लाज्मा का उत्सरण

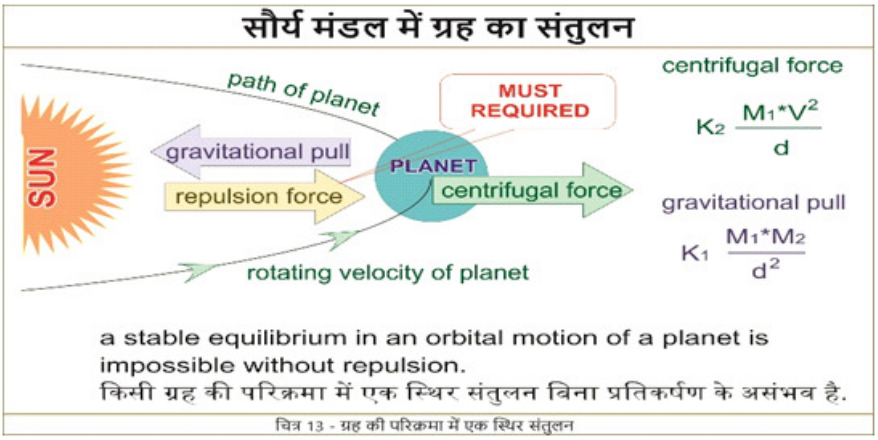

चित्र 13 - ग्रह की परिक्रमा में एक स्थिर संतुलन

प्लाज्मा का उत्सरण हजारों किलोमीटर तक होता है। यह सूर्य के तापमान के कारण होने वाले प्रतिकर्षण के कारण है। (चित्र 12)

3. संतुलित ओर्बिट- जब कोई ग्रह सूर्य की परिकृमा लगाता है तो उस ग्रह पर दो बल कार्य करते हैं, इनमें प्रथम है अपकेंद्रिय बल तथा दूसरा है गुत्वाकर्षण बल। ये बल संतुलित तो हो सकते हैं परंतु बिना प्रतिकर्षण बल के स्थिर संतुलन प्राप्त नहीं कर सकते। (चित्र 13)

14.0 समय विस्तारण (time dilation) की अवधारणा

जैसा की अल्बर्ट आइंस्टीन ने कहा, और प्रमाणित भी हो गया कि प्रकाश किसी भी गतिशील तममितमदबम तिंउम के सापेक्ष में एक निश्चित गति से ही चलता है। व्यवहारिक रूप से यह असम्भव दिखाई देता है। इस असम्भव को सम्भव प्रमाणित करने के लिये आधुनिक वैज्ञानिकों ने 'गति के साथ समय के विस्तारण' की कल्पना की। यह कल्पना अनुमान प्रमाण से प्रमाणित नहीं होती। प्रस्तुत सिद्धांत इस विषय पर अल्बर्ट आइंस्टीन से सहमत नहीं है। प्रस्तुत सिद्धांत के अनुसार प्रकाश भौतिक पदार्थ के सापेक्ष में 'असत्' है अतः कर्ता भाव से हीन है। अतः जब हम यह कहते हैं कि प्रकाश 'ब' गति से चलता है तो हम तक्नीकी रूप से गलत होते हैं। वस्तुतः प्रेक्षक (कर्ता) ही प्रकाश को आत्मसात (अंतर्गमित) कर रहा है। और अंतर्गमन की गति निश्चित है, जो कि 'ब' है। अब क्यों कि गति को प्रेक्षक ही माप रहा है, उत्सर्जक की गति से उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

भारतीय दर्शन को जिस रूप में मैने वर्णन किया है वह प्रचलित मान्यताओं से अलग हो सकता है, परंतु मेरी दृष्टि में इसमें प्रचलित मान्यताओं का कोई विरोध नहीं है। मात्र दर्शन की दिशा का अंतर है। मैंने प्रत्येक विवरण को भौतिक दृष्टि से देखने का प्रयास किया है, आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (41-49) January-June 2019 ISSN 2277-4351

ऊर्जा के अवशोषण एवं उत्सर्जन का वैदिक विज्ञान

विशाल आर्य, उपाचार्य
वैदिक एवं आधुनिक भौतिकी शोध संस्थान,
वेद विज्ञान मन्दिर, भीनमाल (राज.) पिन-343029

सार

प्रस्तुत शोधपत्र में इलेक्ट्रॉन एवं फोटोन के मध्य अन्योन्य क्रिया, फोटोन का इलेक्ट्रॉन में अवशोषण एवं उत्सर्जन, किसी फोटोन के इलेक्ट्रॉन से संयुक्त वा वियुक्त होने की प्रक्रिया तथा कण द्वारा फोटोन की ऊर्जा का आंशिक अवशोषण के क्रिया विज्ञान का वर्णन किया गया है। साथ में वैदिक एवं आधुनिक भौतिक विज्ञान की तुलनात्मक विवेचना की गयी है। **वैदिक रश्मि थ्योरी**, जो श्री आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक के ग्रन्थ **वेदविज्ञान-आलोकः** पर आधारित है, के अनुसार ऐसी क्रियाओं को सम्पन्न करने में परमात्मा की प्रेरणा से समय-2 पर नाना प्रकार की वैदिक छन्द रश्मियों को उत्पन्न किया जाता है। वैदिक छन्द रश्मियां सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म अति सूक्ष्म क्रियाओं में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

क्वाण्टाज् के किसी कण के द्वारा उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया

(अग्नि के विकिरण अर्थात् उत्सर्जन व अवशोषण में तेरह छन्द रश्मियां प्रेरक का कार्य करती हैं। इसके साथ ही इस कार्य में मुख्य भूमिका के लिए **राहूगणपुत्रो गोतम ऋषि** प्राण अर्थात् धनंजय प्राण से अग्नीषोमौ-देवताक एवं निचृत् त्रिष्टुप् छन्दस्क रश्मि

अग्नीषोमा हविषः प्रस्थितस्य वीतं हर्यतं वृषणा जुषेथाम्।
सुशर्माणा स्ववसा हि भूतमथा धत्तं यजमानाय शं योः।।

(ऋ.1.93.7)

की उत्पत्ति होती है। इसके दैवत व छान्दस प्रभाव से अग्नि व सोम तत्त्व तीव्र बल व तेज से समृद्ध होते हैं। इसके अन्य प्रभाव से अग्नि व सोम प्रधान पदार्थ अग्नि के परमाणुओं को विभक्त करके उत्सर्जित करने के लिए विभिन्न मार्गों से देशान्तर पहुंचाने हेतु वाक् तत्त्व का बल प्राप्त करते और अग्नि के कणों को उत्तम

रक्षा प्रदान करते हैं। यह रश्मि बनने वाले विभिन्न क्वाण्टाज् के साथ संयुक्त होकर उन्हें वाक् तत्त्व से संयुक्त करके उन्हें इलेक्ट्रॉन आदि से उत्सर्जित करने में तीव्र बल प्रदान करती है। इस कारण अर्थात् वाक् तत्त्व के संयोग से संयोग-वियोग करने वाले विभिन्न कणों व तरंगों के द्वारा वे अग्नि के परमाणु धारण किए जाते हैं।

इस रश्मि के कारण अग्नि तत्त्व परमाणुरूप होकर विभिन्न कणों के साथ संगत व वियुक्त होते हुए अपनी यात्रा पर सतत गमन करते रहते हैं। **अग्नि गमन करते समय भी फैलता हुआ चलता है** तथा विभिन्न पदार्थ कणों के द्वारा आकर्षित किया जाता ही रहता है। **वे क्वाण्टाज् जब तरंग रूप होकर गमन करते हैं, उस समय वे फैले हुए होते हैं और जैसे ही वे किसी कण के द्वारा अवशोषित किए जाते हैं, वैसे ही तत्काल ऊर्जा संकुचित होकर फिर उस अवशोषक कण में व्याप्त हो जाती है। इससे प्रतीत होता है कि ऊर्जा केवल उत्सर्जित व अवशोषित होते समय ही कण का रूप धारण करती है। मार्ग में वह ऐसे प्रवाह करती है, मानो उसका एक पूर्ण सुस्पष्ट सीमांकन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ऊर्जा को क्वाण्टा रूप देने हेतु ही इस त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की विशेष भूमिका होती है।**

जब इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है अर्थात् पूर्वोक्त सभी छन्द रश्मियों की उत्पत्ति हो जाती है, तब विभिन्न आकर्षक कणों से अग्नि के परमाणु संयुक्त होते रहकर उन्हें समृद्ध करते रहते हैं अर्थात् उन्हें भी विविध प्रकार की गतियों, संगतियों से युक्त करते हैं।[1]

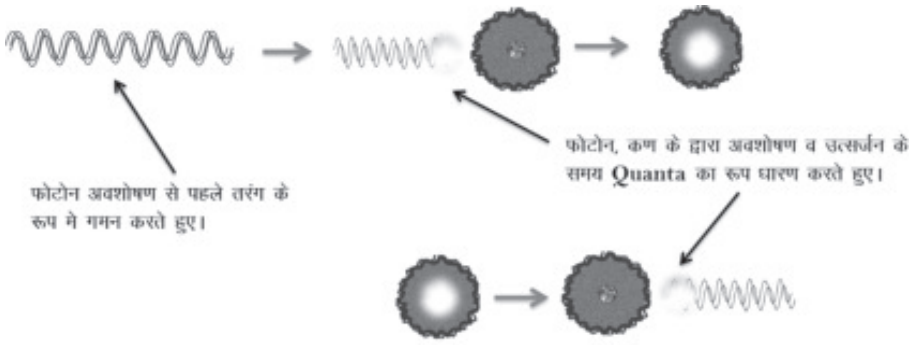

चित्र-1 क्वाण्टाज् के किसी कण के द्वारा उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया

[फोटोन, इलेक्ट्रॉन आदि की विशिष्ट रचना के कारण एक इलेक्ट्रॉन से **एक समय में एक से अधिक फोटोन एक साथ संयोग नहीं कर सकते।**'[1] **इसी**

1. A single photon carries an energy hf into the emitter, where it is essentially transferred to single electron." [9]

प्रकार किसी आयन से एक समय में एक साथ एक से अधिक इलेक्ट्रॉन संयोग नहीं कर सकते। किसी आयन से संयोग करने वाले इलेक्ट्रॉनों में पहला इलेक्ट्रॉन जिस सहजता से संयोग करता है, उस सहजता से उसके पश्चात् संयोग करने वाले इलेक्ट्रॉनों में से कोई भी संयोग नहीं कर सकता, इसी प्रकार इलेक्ट्रॉन से फोटोन के उत्सर्जन एवं किसी इलेक्ट्रॉन के उत्सर्जन की प्रक्रिया भी समझी जा सकती है।]

कण द्वारा फोटोन को ऊर्जा का आंशिक अवशोषण

[प्राण नामक प्राण से

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकाम॥1॥

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
उप मामुच्चा युवतिर्भूयाः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे॥2॥

अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्॥3॥

(ऋ.10.183.1-3)

तृच् सूक्त की उत्पत्ति होती है। इनका देवता **''अन्वृचं यजमानयजमान-पत्नीहोत्राशिषः''** है तथा छन्द प्रथम का त्रिष्टुप् और शेष दोनों का विराट् त्रिष्टुप् है।

इन छन्द रश्मियों के कारण संलयन ऊर्जा विशेष प्रकाशवती होती है तथा तारों के **केन्द्रीय भाग में विभिन्न सूक्ष्म रश्मियों से अनेक छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं।** विभिन्न कणों वा तरंगों की विशेष शक्तियाँ उत्कृष्ट होती हैं। **प्राण नामक रश्मि विविध फोटोन्स के साथ संयुक्त होकर विविध पदार्थों के निर्माण एवं विभिन्न लोकों के धारण में सहयोग करती है। कोई भी फोटोन स्वयं कई प्रकार की छन्द रश्मियों से युक्त होकर विभिन्न ऊर्जा अवयवों का समूह होता है। यही कारण है कि कोई फोटोन किसी अन्य कण से जब टकराता है, तो कुछ ऊर्जा उसे देकर शेष ऊर्जा रूप में आगे की यात्रा पर निकल पड़ता है। कोई भी फोटोन न्यूनतम ऊर्जा की इकाई नहीं होता।]**[2]

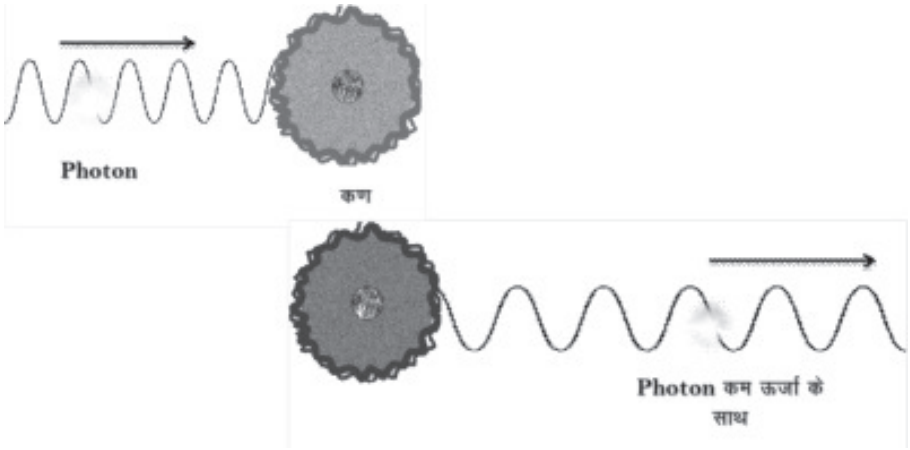

चित्र-2 कण द्वारा फोटोन को ऊर्जा का आंशिक अवशोषण

आधुनिक विज्ञान का मत

....the incident photon of energy E(=hf) gives up some of its energy to the recoiling electron, the scattered photon must have a lower energy E'(=hf').[5]

"In 1905, Einstein, building on the pioneering work of Max Planck proposed that light could indeed exist as discrete bundles of energy, which we now call photons. E=hf "[05]

फोटोन द्वारा इलेक्ट्रॉन को आंशिक ऊर्जा प्रदान करने की प्रक्रिया

[वाक् तत्त्व, जो अति सूक्ष्म अवस्था में विद्यमान होता है एवं सूक्ष्म मरुद् रश्मियाँ द्रव्य एवं ऊर्जा के साथ ही सदैव संयुक्त रहते हैं। विभिन्न फोटोन्स भी अति सूक्ष्म रश्मियों को धारण करते हैं। **जब फोटोन्स किसी इलेक्ट्रॉन आदि से टकराते हैं, तो वे इन्हीं सूक्ष्म रश्मियों को उन कणों में प्रक्षिप्त करते हैं। सभी प्रकार के सूक्ष्म कण, फोटोन्स अथवा बल-रश्मियाँ आदि पदार्थ अपनी सूक्ष्म शक्तियों अर्थात् 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' आदि दैवी गायत्री छन्दों के साथ सदैव संयुक्त रहकर अपना कार्य करने एवं बाधक रश्मियों को दूर करने में समर्थ होते हैं। विभिन्न प्रकार के फोटोन्स गायत्री आदि सात प्रकार की छन्द रश्मियों, मन और वाक् तत्त्व, मूल प्रकृति और प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों से भी युक्त होते हैं। वे फोटोन्स धनञ्जय प्राण के साथ आकाश तत्त्व पर सवार होकर गमन करते हैं।** आकाश में व्याप्त वायु और विद्युत् आकाश में विद्यमान कणों पर विभिन्न सूक्ष्म प्राणों की वर्षा करते रहते हैं। प्राणापानादि प्राथमिक प्राण आकाश तत्त्व को भी धारण वा तृप्त करते हैं। तीव्र भेदक विद्युत् तरंगों को सूक्ष्म

मरुद् रश्मियाँ सदैव घेरे रहती हैं। **विभिन्न मरुद् रश्मियाँ बड़ी छन्द रश्मियों, फोटोन्स, इलेक्ट्रॉन्स, आदि कण अथवा मिडीएटर पार्टीकल्स सबको उनका स्वरूप प्रदान करने में सहायक होती हैं और वे ही उनका भेदन भी करती हैं।**][3]

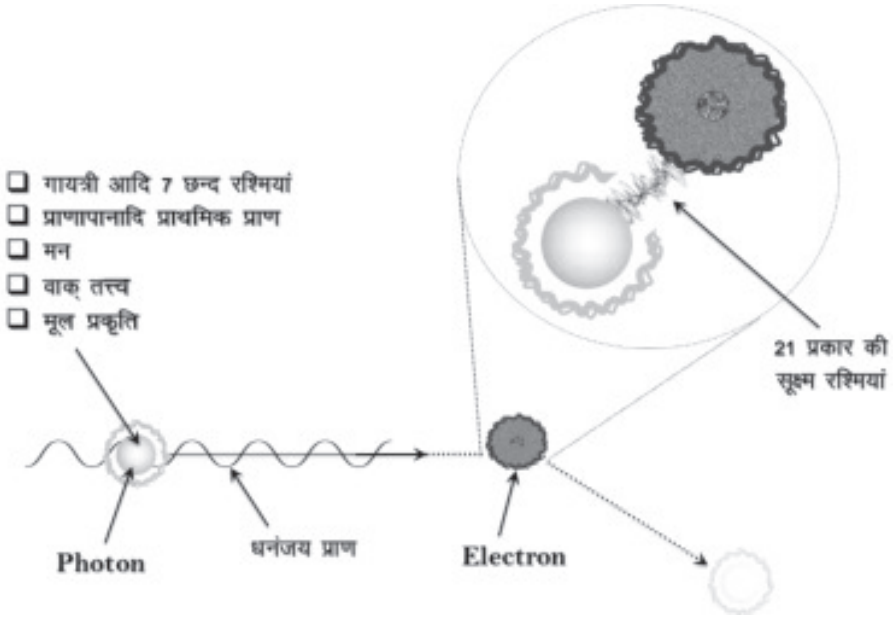

चित्र-3 फोटोन द्वारा इलेक्ट्रान को आंशिक ऊर्जा प्रदान करने की प्रक्रिया

आधुनिक विज्ञान का मत

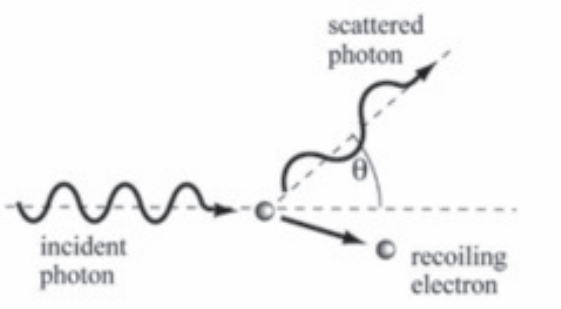

Compton scattering, discovered by Arthur Holly Compton, is the scattering of a photon by a charged particle, usually an electron. It results in a decrease in energy (increase in wavelength) of the photon (which may be an X-ray or gamma ray photon), called the Compton effect. Part of the energy of the photon is transferred to the recoiling electron. Inverse Compton scattering occurs when a charged particle transfers part of its energy to a photon.[7]

किसी फोटोन के इलेक्ट्रॉन से संयुक्त वा वियुक्त होने की प्रक्रिया

अग्नेऽवीहि हविषा यक्षि देवान्त्स्वध्वरा कृणुहि जातवेदः॥3॥

(ऋ. 7.17.3)

यह ऋग् रश्मि वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राण नामक प्राण से उत्पन्न होती है। इसका देवता अग्नि और छन्द आर्च्युष्णिक् होने से फोटोन और इलेक्ट्रॉन का जब संयोग होता है, तब इसकी भी भूमिका होती है। इसके अन्य प्रभाव से अग्नि परमाणु (ऊर्जा कण) संयोज्य कण के साथ व्याप्त हो जाता है और उसे गति प्रदान करता है। ऊर्जा तरंगों का अन्य कणों से जब संयोग होता है, तब उपर्युक्त अन्तिम दोनों छन्द रश्मियाँ वज्र रूप धारण करके संयोग की क्रिया को कुशलता से सम्पन्न करती हैं और उसी के पीछे-2 इस उष्णिक् छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। यह रश्मि भी वज्ररूप होकर उस संयोग को पूर्णता प्रदान करती है।यह संयोग किसी कण के उत्तर वा प्रतिष्ठारूप दक्षिण दिशा में होता है। तदुपरान्त दो छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। जिनमें से प्रथम

यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोऽयं स वामश्विना भाग आ गतम्।
माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः॥

–अथर्व. 7.73.4

अथर्वा ऋषि प्राण से उत्पन्न होती है। इसका छन्द जगती और देवता अश्विनौ होने से प्राणापान सक्रिय होकर अग्नि परमाणु को अन्य कण के द्वारा अवशोषित होने में सहयोग मिलता है। इसके अन्य प्रभाव से यज्ञ के धारक प्राणापान किंवा वायुविद्युत् अग्नि किरणों में विद्यमान विभिन्न प्राणादि पदार्थ उस संगतीकरण प्रक्रिया में प्रकाश और तेज से युक्त होकर अन्य कण के वायुविद्युत् से संयोग करते हैं। इसके ही **'ब्रह्मातिथि काण्व'** ऋषि अर्थात् सूत्रात्मा वायु से उत्पन्न प्राणापान में विचरण करने वाले एक सूक्ष्म प्राण विशेष से

अस्य पिबतमश्विना युवं मदस्य चारुणः।
मध्वो रातस्य धिष्ण्या॥ (ऋ.8.5.14)

की उत्पत्ति होती है। इसका देवता अश्विनौ और छन्द निचृद्गायत्री होने से वे प्राणापान किंवा अग्निवायू किञ्चित् भेदक शक्तिसम्पन्न होकर पूर्वोक्त संयोग को और दृढ़ करते हैं। इसके अन्य प्रभाव से वायुविद्युत् तीक्ष्ण होकर संयोज्य कणों से उत्सर्जित प्राणों को अवशोषित कर लेते हैं, जिससे ये दोनों छन्द रश्मियाँ मिलकर उपर्युक्त दोनों कणों के संयुक्त रूप को आवृत करके मानो उनके द्वारपाल के रूप में काम करती हैं और दूसरा विज्ञान यह है कि उपर्युक्त छन्द रश्मियों द्वारा जो दोनों

कणों का संयोग होता है, वह तत्काल ही वियोग में बदल जाता है और कणों के वियुक्त होते समय पूर्वोक्त **"अग्ने वीहि"** छन्द रश्मि उत्पन्न होकर उत्तर वा दक्षिण दिशा से दोनों कणों को पृथक्–2 करती है। इस प्रकार इनका संयोग और वियोग उन कणों के उत्तरी वा दक्षिणी ध्रुवों से ही होता है। उत्तरी दिशा से कण किसी अन्य कण का वरण करके उसके साथ संधि करते हैं। इस प्रकार संयोग वियोग इन दोनों ही दिशाओं से सम्पन्न हो सकता है।

कोई फोटोन इलेक्ट्रॉन पर गिरता है, तो वह इलेक्ट्रॉन के उत्तरी वा दक्षिणी भाग से ही प्रविष्ट होता है और जब वह वापिस इलेक्ट्रॉन से उत्सर्जित होता है, तो वह उसी दिशा से उत्सर्जित होता है। दिशा का यह नियम उपर्युक्त प्रथम छन्द रश्मि के कारण होता है। शेष दोनों रश्मियां फोटोन को इलेक्ट्रॉन के द्वारा पूर्ण रूप से अवशोषित करने में काम आती हैं, जिससे फोटोन की ऊर्जा इलेक्ट्रॉन, जो स्वयं सूक्ष्म कणों का समूह होता है, में व्याप्त हो जाती है और जब इलेक्ट्रॉन से वह फोटोन वापिस उत्सर्जित होता है, तो इन्हीं दो छन्द रश्मियों के प्रभाव से वह ऊर्जा एकत्र होकर प्रथम रश्मि के सहयोग से इलेक्ट्रॉन की उसी दिशा से घनीभूत रूप में बाहर उत्सर्जित हो जाती है।][4]

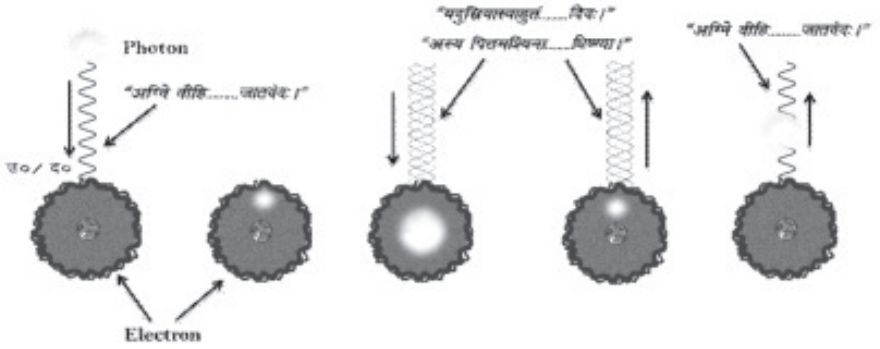

संयोग–वियोग की उपर्युक्त प्रक्रिया में आवरण पूर्ण नष्ट कभी नहीं होता बल्कि वह कण की आयु भर तक उसके साथ ही विद्यमान रहता है। पुनरपि वह आवरण क्षीण अवश्य हो जाता है, जैसे मानो इन कणों के चारों और दो आवरण विद्यमान रहते हों, जिनमें से एक आवरण किसी कण की गति और तेज आदि की तीव्रता सुनिश्चित करता है और दूसरा अतिसूक्ष्म आवरण ऊपरी आवरण को गृहीत वा विसर्जित करने में विशेष भूमिका निभाता हुआ किसी भी कण की विशिष्टता को संरक्षिति रखता है। यदि यह आवरण भी संयोग के समय समाप्त हो जाता, तो विभिन्न कणों के वियोग के समय पूर्व कण कभी प्रकट नहीं हो सकते थे। ध्यातव्य है कि

कणों के वियोग के समय सूक्ष्म वाला आवरण क्षीण हुए आवरण को पुनः उत्पन्न करके कण के साथ बाहर आता है, जिससे उस कण का पूर्ववत् तेज, बल, गति प्रकट हो जाते हैं।

आधुनिक विज्ञान का मत

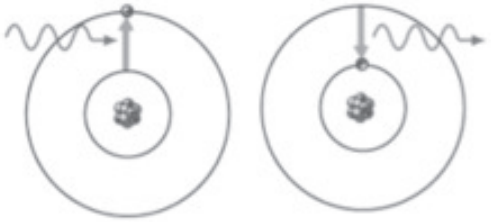

If a photon hits an atom and the energy of the photon is the same as the gap between two electron energy levels in the atom, then the electron in the lower energy level can absorb the photon and jump up to the higher energy level. If the photon energy does not correspond to the difference between two energy levels then the photon will not be absorbed.As the electrons in the atoms fall back down, they emit electromagnetic radiation (light).[8]

उपसंहार

श्री आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक ने अपने भाष्य में इन अति सूक्ष्म प्रक्रियाओं का गम्भीर विज्ञान उदघाटित किया है, जिसके बारें में वर्तमान वैज्ञानिक अनभिज्ञ है। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जहाँ भी ऊर्जा के अवशोषण एवं उत्सर्जन की क्रिया होती है, वहाँ वैदिक छन्द रश्मियां अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान भौतिकी अभी तक फॉटोन की संरचना तथा इलेक्ट्रॉन एवं फॉटोन के मध्य होने वाली अन्योन्य क्रिया को गहराई से समझने में असमर्थ बना हुआ है। ऐसी स्थिति में उसे वैदिक विज्ञान का सहयोग लेने का प्रयास करना चाहिए। इस दिशा में **वेदविज्ञान-आलोकः** नामक ग्रन्थ उनके लिए मार्गदर्शक की भूमिका निभा सकता है।

संदर्भ-

1. 2.10.3 वेदविज्ञान-आलोकः (ऐतरेय ब्राह्मण की वैज्ञानिक व्याख्या), आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक, श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास, 2018
2. 1.21.3 वेदविज्ञान-आलोकः (ऐतरेय ब्राह्मण की वैज्ञानिक व्याख्या), आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक, श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास, 2018
3; 1.22.1 वेदविज्ञान-आलोकः (ऐतरेय ब्राह्मण की वैज्ञानिक व्याख्या), आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक, श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास, 2018

4. 1.22.3 वेदविज्ञान-आलोकः (ऐतरेय ब्राह्मण की वैज्ञानिक व्याख्या), आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक, श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास, 2018
5. Physics (Halliday.Resnick.Krane) Vol - 2, Pg. No. 1016
6. Physics (Halliday.Resnick.Krane) Vol - 2, Pg. No. 1020
7. Wikipedia
8. https://www.siyavula.com/read/science/grade-12/optical-phenomena-and-properties-of-matter/12-opticalphenomena-and-properties-of-matter-03
9. Physics (Halliday.Resnick.Krane) Vol 2, Pg. No. 1020

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (50-56) January-June 2019 ISSN 2277-4351

ऋग्वेद में अग्नि का वैज्ञानिक स्वरूप

डॉ. भगवान दास जोशी

विज्ञान की अवधारणायें समय-समय पर परिवर्तित होती रहती हैं, परन्तु वैदिक विज्ञान की स्थापनाएँ अविकल रूप में आज भी यथावत् विद्यमान हैं। आज का विज्ञान कुछ दिन पूर्व तक यह मानता था कि यह संसार अनेक तत्त्वों के समूह से बना है, परन्तु विकास के क्रम में अब उसने जिस धरातल का स्पर्श किया है, उस स्थान पर खड़ा होकर वह यह मानने लगा है कि इस संसार का मूल तत्व एक है और वह है-ऊर्जा।

सृष्टि के मूल में निहित इस तत्त्व को यजुर्वेद का ऋषि पुरुष रूप में निरूपित करता है।[1] वेदों की व्याख्या करते हुए एतेरेय ब्राह्मण कहता है कि- 'अग्निः सर्वा देवताः'।[2] मैत्रायणी और काठक संहिताओं के द्वारा भी उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।[3] आचार्य दुर्ग 'दैवत' का स्वरूप विवेचन करते हुए कहते हैं कि 'देवतास्मिन्देवतेति दैवतः'[4] कि सभी देवता जिसमे ं विद्यमान हैं, ऐसा देवता 'दैवत' कहलाता है। दुर्ग के अनुसार इस प्रकार का देवता अग्नि है, क्योंकि यह सभी देवताओं का पूज्य है। इसलिये सभी देवताओं में अग्नि सबसे बड़े भाग का अधिकारी है और 'अपरिग्रहं च श्रेष्ठगामि'[5] इस न्याय के अनुसार जिस वस्तु का कोई स्वामी नहीं होता, उसका स्वामी वह होता है, जो उपलब्ध व्यक्तियों में सर्वश्रेष्ठ होता है, अग्नि सम्पूर्ण देवताओं में श्रेष्ठ है, अतः अस्पष्ट लिङ्ग वाले मन्त्रों का देवता अग्नि होता है अर्थात् ऐसे मन्त्र आग्नेय कहलाते हैं, यह आचार्य दुर्ग का विचार है।[6] आचार्य दुर्ग की उपर्युक्त व्याख्या निस्सन्देह समीचीन है। जो देवता आकाश से लेकर पाताल तक सर्वत्र विद्यमान है, उसके सम्बन्ध में 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' कथन कैसे

---

1. यजु. 31.2. पुरुष एवेदं सर्वम्।
2. ऐ.ब्रा. 2.3
3. मै. सं. 2.1.4 2.3.1. काठ. सं. 10.1
4. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ. 629
5. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ. 629
6. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ., 629

अनुचित माना जा सकता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण स्पष्ट रूप से कहता है:- 'ते देवा अग्नौ तनूः सन्यदधत। तस्मादाहुरग्नि सर्वा देवता इति'[1] कि उन देवताओं ने अपने शरीर को अग्नि में स्थापित कर दिया, इस कारण यह कहा जाता है कि अग्नि में ही सम्पूर्ण देवता स्थित हैं।

खगोलविज्ञान के रहस्य को उद्घाटित करते हुए ऋग्वेद के मेध्य काण्व ऋषि कहते हैं-

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥[2]

'एक मात्र अग्नि ही अनेक रूपों में ऊर्जा का संचार कर रहा है, एक सूर्य ही समस्त संसार में अनेक रूपों में उत्पन्न हो रहा है, एक ही उषा सर्वत्र दिखायी दे रही है अथवा एक ही है जो समस्त रूपों में उत्पन्न हो रहा है।'

उपर्युक्त मन्त्र में ऋषि ने जिस सत्य का दर्शन किया है वह यह है कि नाना रूपों में दृश्यमान अखिल ब्रह्माण्ड का मूल उद्गम अग्नि है। जिस प्रकार विद्युत् को प्रकाशरूप, उष्णरूप, घूर्णनरूप अथवा शीतलरूप में से किसी एक के साथ नहीं बाँध सकते या जिस प्रकार विद्युत् अनेक प्रकार के कार्यों का कारण और जनक है, उसी प्रकार अग्नि भी अव्यक्त को व्यक्त सत्ता में परिणत करने वाला तत्त्व है। इसलिए सृष्टिपूर्व विद्यमान रहने वाले तत्त्व को 'हिरण्यगर्भ' नाम से अभिहित किया गया[3] अर्थात् उसके अन्तस् में हिरण्य अर्थात् अग्नि है। दीर्घतमा ऋषि अग्नितत्त्व के रहस्य का साक्षात्कार करते हुए कहते हैं कि इन्द्र, मित्र, वरुण, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा- ये सब अग्नि के ही नाम हैं।[4]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद अग्नि के जिस रूप की चर्चा कर रहे हैं वह लोक में ग्रहण किया जाने वाला सामान्य अग्नि नहीं हो सकता। शतपथ ब्राह्मण कहता है- 'अयमग्निर्वैश्वानरः। योऽग्रमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते।'[5] यह वैश्वानर अग्नि चूल्हे की आग से कहीं अधिक सूक्ष्म है। जो भोजन को रक्त, मांसादि के रूप में परिणत करने का काम करता है, यह काम चूल्हे की आग कदापि

---

1. तै. ब्रा., 3.2.9
2. ऋ. 8.58.2
3. ऋ. 10.121.1, यजु. 13.4 हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
4. ऋ., 1.164.46. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
5. शत.ब्रा. 14.8.10.1.

नहीं कर सकती। यही अग्नि ऊष्मा के रूप में जीवनीशक्ति है, जब तक ऊष्मा है, तब तक जीवन है। महाभारत में इस जीवनीशक्ति अग्नि को 'मनु' नाम से अभिहित किया गया है–

ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे साऽग्निर्भूतेषु लक्ष्यते।
अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत्॥[1]

समस्त ज्ञान–विज्ञान का आधार होने से जिस चेतनतत्व को अग्नि कहा जाता है, उसी को महाभारतकार 'मनु' नाम से अभिहित कर रहे हैं। क्योंकि चेतन का आधार मनन है और यह मनन ही नासदीय सूक्त में वर्णित 'काम'[2] है। यह अग्निरूपी काम ही प्रलय में भी प्राणवान् रहने वाले ब्रह्म के मन में सिसृक्षा को जन्म देता है। इसीलिए आचार्य यास्क अग्नि का निर्वचन करते हुए उसे 'अग्रणी'[3] कहकर व्युत्पादित करते हैं। यह व्युत्पत्ति भले ही वैयाकरणों को मान्य न हो, परन्तु वेदार्थ की निकषा पर यह पूर्णतया घटित होती है।

अग्नि के जिन विविध रूपों की चर्चा वैदिक साहित्य में प्राप्त होती है, उस विस्तृत सन्दर्भ में आज का विज्ञान अग्नि या ऊर्जा को ग्रहण करने पर सहमत नहीं हो सकता, यह सत्य है। परन्तु आज जिस रूप में वह ग्रहण कर रहा है, वह भी कम आश्चर्यजनक नहीं है।

आधुनिक विज्ञान की यह मान्यता है कि जगत् के सूक्ष्मतम तत्त्व अणु में निरन्तर विद्युत् धारा प्रवाहित रहती है। वेद की भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि अणुओं के अन्तस् में निरन्तर, निर्बाध गति से अग्निकाण्ड चल रहा है, इसको विज्ञान की भाषा में रेडियेशन कहते हैं और यदि हृदयंगम करने की भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि प्रत्येक पदार्थ से अविरल तेज प्रवाहित हो रहा है और स्वयं उसमें भी अविछिन्न रूप से गति हो रही है। इसलिए उक्त वैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखते हए संसार को 'जगत्' नाम अभिहित किया गया है। इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जो रुका हुआ हो, समस्त दृश्यमान जगत् गतिशील है और गतिशील है, इसलिए वह दृश्य है। चित्रपट पर दिखाई देने वाला चित्र रील की गति के कारण ही दृश्य है, उसके रुकते ही उसकी दृश्यता अदृश्य हो जाती है।

सांख्य का सिद्धान्त है कि विषमता से सृष्टि और समता से प्रलय होती है। व्यक्त होने का आधार विरूपा क्रिया, जबकि अव्यक्त होने का आधार सरूपा क्रिया होती है। वास्तविकता यह है कि क्रिया सरूप कभी नहीं हो सकती, परन्तु कुछ

1. महा., अरण्य पर्व–211.4.
2. ऋ., 10.129.4. कामस्तदग्रे समवर्ततााधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
3. निरु. 7.14.

विवशताओं के चलते सांख्य ने क्रिया रूप को सरूप माना है। इस प्रकार विषमता क्रिया या गति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

यह एक यक्ष प्रश्न है कि वैदिक साहित्य में अग्नि का एक गुणविशेष क्रिया है अथवा क्रिया का नाम ही अग्नि है। अथवा अग्नि की उपस्थिति मात्र से क्रिया होती है, जिस प्रकार विद्युत् से वर्षा नहीं होती, परन्तु विद्युत् की उपस्थिति मात्र से मेघ बरसते हैं, क्या उस प्रकार अग्नि की भूमिका है? चाहे जो वास्तविकता हो, यह सत्य है कि क्रिया के साथ अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध है। जहाँ क्रिया होगी, वहाँ अग्नि अवश्य उपस्थित होगी, क्योंकि बिना ऊर्जा के गति सम्भव नहीं है।

समस्त जगत् प्रपंच संकोच और विस्तार की भाषा बोल रहा है। भूगोलविदों के अनुसार हिमालय अभी शिशु है, वह अभी विकास प्रक्रिया के दौर से गुजर रहा है, यह और कुछ नहीं अणुओं में निहित शक्ति, जो अग्निरूपा है, वह अपने को प्रकट कर रही है। इसी प्रकार वैज्ञानिक बतलाते है कि ब्रह्माण्ड में ब्लैक होल है, जो समीप आने वाले बड़े-बड़े ग्रहों को अपने में आत्मसात् करने की शक्ति रखता है। यह शक्ति भी अग्नि का ही एक रूप है।

ऋग्वेद में सूर्य तथा ग्रहों की उत्पत्ति का वर्णन प्राप्त होता है-

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत्।।[1]

मन्त्र में जिज्ञासा उत्पन्न करते हुए कहा गया है कि 'अस्थियुक्त को अनस्थियुक्त धारण करता है, तब किसने देखा? पृथिवी के असृक् (रक्त) और आत्मा कहाँ हैं? कौन विद्वान् इस रहस्य को जानने के लिये समुत्सुक है?

उपर्युक्त मन्त्र में जिन दो तत्त्वों का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है वे हैं- 1. अस्थियुक्त 2. अनस्थियुक्त। यहाँ 'अस्थि' से अभिप्राय ठोस तथा 'अनस्थि' से असंघात अर्थात् तरल पदार्थ प्रतीत होता है। कहने का तात्पर्य है कि मन्त्र सृष्टि की सर्जन प्रक्रिया का उल्लेख कर रहा है। भूतसृष्टि सर्जन प्रक्रिया में वह क्षण भी आता है, जब दो प्रकार के पदार्थ विद्यमान होते हैं, एक तो वे जो ठोस आकार ग्रहण कर रहे होते हैं, जैसे- पृथिवी आदि ग्रह और दूसरे वे होते हैं जो तरल अवस्था में रहते हैं। इसमें से अस्थियुक्त अर्थात् ग्रह आदि का आधार अनस्थियुक्त अर्थात् गैस रूप में विद्यमान तरल पदार्थ को बताया गया है। यदि और अधिक सरल रूप से कहें तो कह सकते हैं कि ग्रह आदि का अस्तित्व गैस आदि से बने सूर्य आदि तारागणों पर निर्भर है, संघात का आधार असंघात है, ठोस का आधार तरल है, द्रव्य

---

1. ऋ. 1.164.4.

की स्थिति द्रव पर है। मन्त्र में एक और रहस्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, वह कहता है कि भूमि के असुर, प्राणद्ध और आत्मा कहाँ हैं? ऋग्वेद के अनुसार पृथिवी का रक्त और आत्मा सूर्य ही है।[1] सूर्य ही वह तत्व है, जिससे यह पृथिवी प्राणियों के लिए धनधान्य को उत्पन्न करती है। सूर्य किरणों से भोजन प्राप्त कर वनस्पतियाँ मनुष्य जगत् को भोजन उपलब्ध करा पाती हैं। इसलिए सूर्य को पृथिवी की आत्मा कहना सर्वथा समीचीन है।

यह सौर मण्डल सूर्य के आकर्षण से बँधा हुआ घूम रहा है, मन्त्र कहता है–

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्येन सविता रथेनाऽऽदेवो याति भुवनानि पश्यन्।।[2]

यह सूर्य आकर्षणयुक्त गति से अमृत तथा मर्त्य को स्थापित करता हुआ हिरण्यमय रथ से समस्त लोकों को देखता हुआ आ रहा है।' मन्त्र का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार आकर्षण से बद्ध होकर समस्त संसार प्रवर्त्तमान हो रहा है, उसी प्रकार से जड़ ग्रहादि भी इसके अपवाद नहीं हैं। आकर्षण ही है, जो इन ग्रहों और उपग्रहों को अपनी धुरी पर स्थित किये हुए है।

इसी प्रकरण को आगे बढ़ाता हुआ वेद का ऋषि कहता है–

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन्देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ।।[3]

'मैं विचार करने पर भी न जानता हुआ देवों के इन निहित पदों को पूछता हूँ। कवियों ने वत्स पर देखने योग्य सप्त तन्तुओं को फैलाया।'

उक्त मन्त्र में इस रहस्य की ओर संकेत किया है कि देव माने जाने वाले सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रह उपग्रह का परिपाक अर्थात् पूर्णता किस प्रकार हुई, इस सत्य का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता, यह केवल अनुमान का विषय है। आगे मन्त्र में कहा गया है कि कवियों ने वत्स पर सप्त तन्तुओं को फैलाया। यहाँ सम्भवतः कवि से आशय गति और वत्स से आशय सूर्य से है और उसी से सात प्रकार की रश्मियाँ निकलती हैं। इस कथन की पुष्टि उक्त सूक्त के द्वितीय मन्त्र से हो जाती है, जिसमें कहा गया है कि सात रश्मियाँ एक चक्र से जुड़ती हैं। और उसको सर्पण स्वभाव का एक अश्व वहन करता है।[4]

---

1. ऋ.,1.115.1 यजु., 7.42. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥
2. ऋ. 1.35.2.
3. ऋ.1.164.5.
4. ऋ. 1.164.2. सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि समस्त भौतिक जगत् का आधार अग्नि ही है। यह अग्नि ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप से तीन प्रकार का है।[1] इसके साथ ही यह अग्नि तीन रूपों में प्राप्त होता है– 1. एक विद्युत् रूप 2. भूमिस्थ अग्नि और 3. सूर्यमण्डलस्थ होकर समस्त जगत् का पालन करता है। मन्त्र कहता है–

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्।।[2]

यह अग्नि केवल तीन प्रकार से ही जगत् को व्याप्त नहीं कर रहा है, अपितु यह ही अनेक रूपों में प्रकट हो रहा है–

यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति।
यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत् का स्वित्तत्र यजमानस्य संवित्।।[3]

प्रजापति के रूप में जिस तत्व की कल्पना की जाती है, वह भी अग्नि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण चार-अचर जगत् इस अग्नि का विस्तार है। तैत्तिरीय-संहिता अग्नि को ही प्रजापति बतलाती है।[4] शांखायन आरण्यक का मत है कि इन्द्र ही प्रजापति है।[5] तैत्तिरीय संहिता आदित्य और इन्द्र दोनों को प्रजापति के रूप में प्रतिपादित करती है। वदे कहता है–

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।।[6]

'यह प्रजापति ही है जो गर्भ में स्थित रहता हुआ अनेक रूपों में प्रकट होता है, इसी में समस्त भवन स्थित हैं। इस व्यक्त रूप जगत् के मूल कारण को योगीजन ही देख पाते हैं।'

यह अग्निरूप प्रजापति दो प्रकार का है, प्रथम अनिरुक्त और दूसरा निरुक्त। प्रथम वह है जिसे शब्द के द्वारा भाषा में नहीं बाँधा जा सकता, जो किसी भी सीमा से परे है, जो अनन्त रूप है, वह अनिरुक्त प्रजापति है। लेकिन जो दिशा, काल, आकार आदि की सीमाओं में आबद्ध किया जा सकता है, वह निरुक्त प्रजापति है।

---

1. ऋ. 1.163.4. त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।
2. ऋ. 1.164.1.
3. ऋ. 8.58.1.
4. तै. सं. 1.2.2.27. अग्निः प्रजापतिः।
5. शां., आ., 5.7.1.2. इन्द्र उ वै प्रजापतिः।
6. यजु., 31.19.

वेद में दोनों प्रकार के अग्नि का उल्लेख मिलता है, परन्तु विज्ञान प्रथम प्रकार के अग्नि को अभी तक स्पष्ट मान्यता देने को तैयार नहीं है। वह तो अग्नि अथवा ऊर्जा के उस रूप को स्वीकार करता है, जो इस ब्रह्माण्ड उत्पत्ति का आधार है। संभवतः अग्नि की अग्रता को ध्यान में रखते हुए ही शतपथ ब्राह्मण कहता है– 'स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षतेपरोऽक्षम्।[1] उसकी अग्रता का आधार उसकी उपयोगिता या पूज्यता ही नहीं, वरन् यह भी है कि सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। इसलिए अग्नि को देवताओं में प्रथम स्थान दिया जाता है।[2] यही कारण है कि अग्नि को प्रथम आहुति दी जाती है।[3] पदार्थों के गुणधर्म का प्रतिपादक वेद ऋग्वेद सर्वप्रथम अग्नि की ही स्तुति करता है।[4]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जो देवता पृथिवी से लेकर द्युलोक तक, अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक, सूक्ष्म से स्थूल तक व्याप्त है, जो सबका आदि भी है और अन्त भी, जो सबका उत्पादक भी और संहारक भी। जो समस्त दृश्यमान रूपों का जनक और कारण है, यदि ऐसे देव को वेद वरुण, मित्र और सब देवताओं का आश्रय बतलाते हैं तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।[5]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि आधुनिक विज्ञान जिसे ऊर्जा नाम से जानता है, वह वैदिक विज्ञान में अग्नि नाम से अभिहित हुआ है। साथ यह कह देना भी उपयुक्त प्रतीत होता है कि जिस व्यापक सन्दर्भ में वैदिक विज्ञान अग्नि को ग्रहण करता है, अभी तक आधुनिक विज्ञान उस धरातल तक नहीं पहुँच पाया है।

✦✦✦

---

1. शत., ब्रा. 6.1.1.11.
2. काठकसंहिता, 7.5.
3. मैं सं. 3.1. अग्निः प्रथम इज्यते। कपिलष्ठसंहिता, 48.16. अग्निं देवतानां प्रथमं यजेत्।
4. ऋ. 1.1.1.
5. ऋ. 5.3.1. त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः।
   त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय॥

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (57-79) January-June 2019 ISSN 2277-4351

Causal Genesis & Celestial Beings

a study in Vedas Part - II

-Acharya Siddhartha A. Bhargava
&
-Prof. Dinesh Chandra Shastri

Manu-Smriti's - Three-fold - Lifeforms; *i.e. the* Three-fold-Yonis:

are ***fundamentally based*** *on* **- Sānkhya's - Three-fold - Nature.**

Based on the corresponding abundance of the Three Gunas in the 'Psyche' or 'Mind', and Body of 'Living Beings', the Snkhyaclassifies All Lifeforms in the Universe as follows: -

ऊर्ध्वं सत्त्व-विशाला। -सा.सू. 3.49

तमो-विशाला मूलतः। -सा.सू. 3.50

मध्ये रजो-विशाला। -सा.सू. 3.51

Manu-Smriti and many other Vaidic scriptures too adopt this principle, and accordingly largely categorise All the Lifeforms in the Cosmos as follows: -

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यम् इत्येषा त्रिविधा गतिः॥ -म.स्मृ. 3.47

I.	**Sāttvika -Yoni**	**- Daiva**	**- Gods**	*Celestial Beings*
II.	**Rājasika -Yoni**	**- Mnusha**	**- Humans**	*Advanced Intelligent - Organic Beings*
III.	**Tāmasika -Yoni**	**- Tiryag**	**- Menials**	*Basic (Low) Intelligent - Organic Beings*

The category of **Tiryag-Yoni** *i.e.* '**Menials**' encapsulates All Cytota and Acytota - Organisms, whether Terrestrial or Extra-Terrestrial; But, exclude All the Advanced Intelligent - Organisms, like the Terrestrial Humans, and any other hypothetical extra-terrestrial Advanced Intelligent - Organisms.

The category of **Mnusha-Yoni** *i.e.* '**Humans**' incorporates All Advanced Intelligent - Organisms, like the Humans of Earth, and any other hypothetical extra-terrestrial Advanced Intelligent - Organisms, that may exist out there on other habitable planets.

The category of **Daiva-Yoni***i.e.* '**Gods**' encompasses the 'Celestial Beings', which arereferred to- in the title of this Thesis as 'Cosmic Beings'. This is a category - that is subject to intense debate. But, specific references of terms such as - **नक्षत्राणि** *and* **ज्योतींषिं** in ***Manu-Smritis*** list of 'Daiva-Yonis' - categorically and conclusively elucidatesand establishes the factthat the 'Celestial Beings' include - All the 'Celestial Bodies' (*which are Hydrostatically Balanced*) that inhabit the outer-space.

This presents a phenomenally radical perspective!Seen in this light, we now come *face-to-face*with a revolutionary outlook of the Universe. According to this **Vaidic** perspective; Absolutely All the '**Celestial Bodies**' (*which are large enough to achieve - Internal-Heating and Hydrostatic Equilibrium*) that habitate (*inhibit*) the vast outer-space; ranging from the:-

- **Planetary Objects**: or **Planets** and Planemos, which extending from the smallest but rounded- moons, centaurs, asteroids, and dwarf planets; to the small and medium Terrestrial, and large Icy; and giant Gaseous - Planets; till the massive Sub-Brown Dwarfs; *to*-
- **Sub-Stellar Objects**: such as the **Brown Dwarfs**; *to*-
- **Stellar Objects**: which include All **Stars**: whether: Pre-Main-Sequence, Main-Sequence, or Post-Main-Sequence; or Remnants of Stars: like Stellar-Mass and Intermediate-Mass Black Holes; also known as Collapsars; *to*-
- **Galactic Nuclei Objects**: such as **Super-Massive-Black-Holes**; AGNs, Quasars, Blazers, Hyper-Massive-Black-Holes, etc.

- are All in-reality - Independent "**Lifeforms**" or **Individual** "**Living Beings**"; similar to the smaller, but much inferior - Organic Lifeforms or Organisms, found here on Earth.

As per this startling Vaidic World-view: the whole Cosmos is a phenomenal hierarchical system of - "**Lifeforms**" or "**Living-Beings**", which are virtually organised in a hierarchical -"**Accommodator** *&*

Accommodatee" -type **Relation**, extending from Top to Bottom. This is- **आश्रयिता-आश्रित**-भाव-संबन्ध।

In the Bottom-Top approach, this can be explained as a - "**Shelter-seeker** *and* **Shelter-provider**" **Relation**; wherein:

- the **Shelter-seeker** - who is the **Dependant** [Dependee]; can be in the form of a **Refugee**, or **Parasite**; and would also include the - **Inter-Dependant** (Associate); *whereas* -
- the **Shelter-provider** - who is the **Host** [Dependable]; and may be either a willing-host like in the case of - normal Dependants, and Refugees; or an unwilling-host in cases such as - Parasites.

This can be understood by means of an example: -

→ A **VIRUS**[*like a Phage, also known as Bacteriophage Virus (meaning eaters of bacteria)*][1], takes Shelter as a **Dependant Parasite**- on a ***Host***ā ***Bacteria***.

→ The **BACTERIA** *in-turn* takes Shelter as a **Dependant Parasite** - inside a ***Host***ā*like a* ***Dog***.

→ The **DOG** *in-turn* takes Shelter as a **Dependant** pet - with a ***Host*-*Human teenager***.

→ The **HUMAN teenager** *in-turn* takes Shelter as a **Dependant** family-member - with a ***Host*** - ***Human Parents*** (Mother and Father).

→ The **HUMAN parents***in-turn* takes Shelter as **Dependant Refugee**employees - under a ***Host - Human landlord***.

→ The rich **HUMAN landlord** *in-turn* takes Shelter as **Dependant** village-member under a ***Host*** - powerful ***Humanvillage-head***.

→ The powerful **HUMANvillage-head** *in-turn* takes Shelter as **Dependant**constituent village-leader - under a ***Host*** - *a* more powerful ***Humanmayor***.

→ The more powerful **HUMAN mayor***in-turn* takes Shelter as **Dependant** constituent mayor - under a ***Host*** - *a* more powerful ***Humangovernor***.

→ The more powerful **HUMAN governor** *in-turn* takes Shelter as **Dependant** constituent governor - under a ***Host*** - more powerful ***Human King*** *or* ***President***.

→ The more powerful **HUMAN ruler** *along with all other Humans,*

their dependants, and all other organic species - *in-turn* takes Shelter as a **Dependant** Organic species - under a ***Host****-a* more powerful ***Planet.***

→ The more powerful **PLANET** *in-turn* takes Shelter as a **Dependant** Non-Luminous Celestial-Body - under a ***Host***ā-*a* more powerful ***Star***.

→ The more powerful **STAR** *in-turn* takes Shelter as a **Dependant** Luminous Celestial-Body - under a ***Host***ā more powerful ***Intermediate-Mass-Black-Hole***.

→ The more powerful **INTERMEDIATE-MASS-BLACK-HOLE** *in-turn* takes Shelter as a **Dependant** Globular-Cluster-Nuclei - under a ***Hostā a*** more powerful ***Super-Massive-Black-Hole***.

→ The more powerful **SUPER-MASSIVE-BLACK-HOLE** *in-turn* takes Shelter as a **Dependant** Galactic Nuclei - under a ***Host***ā more powerful ***Super-Cluster-Nuclei***, which is *most-possibly* an ***Ultra-Super-Massive-Black-Hole***.

→ The more powerful **ULTRA-SUPER-MASSIVE-BLACK-HOLE** *in-turn* takes Shelter as a **Dependant** Super-Cluster-Nuclei - under a ***Host***ā*a* more powerful ***Hyper-Super-Massive-Black-Hole***.

→ The more powerful **HYPER-SUPER-MASSIVE-BLACK-HOLE** *in-turn* takes Shelter as a **Dependant** Super-Cluster-Complex-Nuclei or Filament-Node - under the ultimately Resourceful and willing ***Host***ā the supremely all-powerful ***Cosmic-Mind***.

→ This supremely all-powerful **COSMIC-MIND**, which offers a conducive Universal environment; with all the necessary: - fundamental - Truth, Knowledge, Laws of Nature, Time, Space, Energy, Forces, Fields, Plasma, Radiation, Particles, Matter, Elements, etc. is the **ULTIMATE SUPREME UNIVERSAL - GOD *or* LORD - BRAHMA**.

While ***Modern Science*** totally accepts this step-by-step hierarchy of "Entities"; It however considers only the first half; that is only those "Entities" ranging from **Virus** or **Bacteria**upto **Humans**, that are classified as '**Organisms**' as - "**Lifeforms**", or "**Living-Beings**".

On the contrary, ***Snkhya***considers absolutely All these "Entities", ranging from the *minutest* '**Viruses**' to the*ultra-massive* '**Ultra-Hyper-**

Massive-Black-Holes' : equally as - **Individual** "**Lifeforms**", or "**Living-Beings**". Accordingly, this classification encompasses both the major super-domains: *i.e.* the '**Organisms**' and '**Celestial Bodies**' - as Individual "Lifeforms" and "Living-Beings". Hence, they are referred to here asû '**Organic Beings**' and '**Celestial Beings**' respectively.

Furthermore, as per the ***Snkhya***, the ultimate **Cosmic Mind**, along with all its innate Fundamental and Universal aspects, such as the - Truth, Knowledge, Laws of Nature, Time, Space, Energy, Forces, Fields, Plasma, Radiation, Particles, Matter, Elements, etc.; which also form the substratum of all the Individual Bodies, and Objects, - is regarded as the sole → **Universal** "**Lifeform**", or "**Living-Being**". Hence, this is holistically referred to as the - '**Universal Being**'. Accordingly, the ***Sānkhya*** claims:-

दैवादिप्रभेदा। –सा.सू. 3.47

अष्टविकल्पो दैवः–पैशाचो राक्षसो याक्षो गान्धर्व ऐन्द्रः प्राजापत्यो ब्राह्म इत्यष्टौ देवयोनयः। *तत्त्वसमाससूत्रवृत्तिः*

and: -

आ–ब्रह्म–स्तम्ब–पर्यनतं तत्कृते सृष्टिः आविवेकात्। –सा.सू. 3.48

Correspondingly, the ***Manu-Smriti***too - in Nine verses claims: -

from first verse: -

स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः॥ –म.स्मृ. 12.42

to ninth verse: -

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः॥ –सा.सू. 12.50

Thus, we can observe that - multiple Vaidic scriptures in absolute unison claim that- All these entities ranging from *minutest* '**Viruses**' to the *ultimate universal & supreme* '**Cosmic Mind**': are all essentially '**Lifeforms**', or '**Living-Beings**'.This encompasses both the multiple Individual Living-Beings, and the singular Universal Living-Being.

Accordingly, the '**Relation**'between All forms of Living Beings; whether û Organic, or Celestial; and whether - Individual, or Universal; can be described as follows: -

आश्रयिता	–	**आश्रित**	– भाव–संबन्ध
भोक्ता	–	**भोग्य**	– भाव–संबन्ध

उपजीव्य	–	**उपजीवक**	– भाव–संबन्ध
सेव्य	–	**सेवक**	– भाव–संबन्ध
Accommodator	-	**Accommodatee**	- *Type-Relation.*
Shelter-provider	-	**Shelter-seeker**	- *Type-Relation.*
Host	-	**Refugee** *or* **Parasite**	- *Type-Relation.*
Protector	-	**Protectee**	- *Type-Relation.*
Guardian	-	**Dependant**	- *Type-Relation.*
Habitat	-	**Habitant**	- *Type-Relation.*
Harbourer	-	**Inhabitant**	- *Type-Relation.*
Master	-	**Servant**	- *Type-Relation.*
Provider	-	**Recipient**	- *Type-Relation.*

Veda's - Three-fold -Spheres; *i.e.the* **Three - Mahavyahritis:** *are* ***fundamentally based on*** **- Sānkhya's - Three-fold - Nature.**

Fundamentally related to Snkhya's - **Three-fold Prakriti** *or* **Nature**, andclosely related with Sānkhya's and Manu-Smriti's - **Triadic Lifeforms** *or* **Living Beings**: are the - **Triadic Mahavyahritis** *or* **Spheres** of the Vedas, and Vaidic scriptures; *viz.*: -

I.	**BHU**	- *sum-total of -**Organisms**; i.e. Biosphere*	**–प्रजाः**
II.	**BHUVAH**	- *sum-total of -**Planemos** & Sub-Stellar Objects*	**–पितरः**
III.	**SWAH**	- *sum-total of - **Stars**, Galactic Black Holes, & Primordial Realm*	**–देवाः**

These three Maha-Vyahritis have correspondingly different proportions of **Sattva-Rajas-Tamas**; and generally speaking, they can be inter-related as follows: -

I.	**BHU**	- **Tamas** -	*predominant - Mind, Energy-source,& Body*	*-**Organisms**;*
II.	**BHUVAH**	- **Rajas** -	*predominant - Mind, Energy-source, & Body*	*- **Planemos**;*
III.	**SWAH**	- **Sattva** -	*predominant - Mind, Energy-source, & Body*	*- **Stars** & Above.*

We can observe that: While the**Triadic-Gunas** form the fundamental basis for the classification of these **Triadic-Mahavyahritis**, and so are common with the**Triadic-Lifeforms** of Sānkhya's and Manu-Smriti's. However, the 'columns' or 'lines' of categorisation vary between the - **Triadic-Lifeforms** *of Snkhya's and Manu-Smriti's*, and **Triadic-Mahavyahritis** *of the Vedas and Brhmanas* (*including ranyakas & Upanishads*).

But, this variation is only on the surface (superficial), and is not fundamental; As it is merely the shifting of the 'Lines' of classification, while the fundamental basis and concept remains same.

In the **Triadic-Lifeforms**of ***Snkhya's*** *and* ***Manu-Smriti***: the '**Organisms**' have been **split** into Two distinct major categories; *viz.*: -

[1] **Basic Intelligent Organisms** - **Tiryag-Yonis**, *i.e.* Menial Beings;

[2] **Advanced Intelligent Organisms** - **Manushya-Yonis**, *i.e.* Human Beings;

While, All 'Celestial Bodies' and their equivalent and superior realms, including the 'Cosmic Mind' - have all been **clubbed** together to form One major category: -

[3] **Celestial Beings** - **Deva-Yonis**, *i.e.* Divine Beings.

This, classification is primarily based on the proportion of the **Triadic-Gunas** in the "**Psyche**" or "**Mind**", i.e. the "**Personality**" of these 'Lifeforms'.

- However, In the **Triadic-Mahavyahritis**of ***Veda's*** *and* ***Brhmana***: absolutely All 'Organisms' have been **clubbed** together to form One major category: -

[1] **Organisms** - **Bhu**-**Mahavyahriti** Organic Beings;

While, the 'Celestial Beings', whichincluded All the 'Celestial Bodies', and their equivalent and superior realms like the 'Cosmic Mind'; û has been **split** into Two distinct major categories; *viz.*: -

[2] **Planemos** - **Bhuvah**-**Mahavyahriti** Astral Beings;

[3] **Stars** ***&*** ***Above*** - **Swah**-**Mahavyahriti** Celestial Beings.

This, classification is primarily based on the proportion of **Triadic-Gunas** in the:

Triadic - "**Energy-source**": Fusion/Singularity/Mind; Radiation;

Combustion; *&* -

Triadic - "**Realm**": - Ecological-realm; Planetary-realm; Stellar & above -realm;

- of these 'Lifeforms'. [*The differentiation of the terms 'Astral' and 'Celestial' are only contextual, and are only for - clarity and convenience of classification.*]

Accordingly, despite the variation in classification; both: -

[A] **Triadic-Lifeforms** - *of* ***Sānkhya's*** *and* ***Manu-Smriti***; *and-*

[B] **Triadic-Mahavyahritis** - *of* ***Veda's*** *and* ***Brāhmana*** :

are directly related to the Snkhya's **Triadic-Gunas**; which in-turn has been formerly shown to be founded in the Vaidic **Triadic-Ajā-अजा-लोहित-शुक्ल-कृष्णा।**

Three - Mahavyahritis *represents the* - Grand Vaidic Trinity:

The **Three Mahavyahritis** are correspondingly claimed to be the '**Essence**' of the **Three Vedas** - *i.e.* the Knowledge Systems. Further, the **Three Vedas** - are in-turn correspondingly claimed to be the '**Essence**' of the **Three Lokas** - *i.e.* the Worlds; *viz.:*

- The Vaidic-system divides the whole Universe into - **Three Lokas**:

  PRITHVI ANTARIKSHA DYAUH

- *The Essenceof the*- Three Lokas*are the* - **Three Vedas**:

  RIG - VEDA YAJUR - VEDA SAMA - VEDA

- *The Essenceof the* - Three Vedas*are the* - **Three Stanzas *of* Gayatri Mantra**:

  तत्सवितुर्वरेण्यम्। भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।।

- *TheEssenceof the* - Three Stanzas of Gayatri Mantra*are* - **Three Mahavyahritis**:

  BHU BHUVAH SWAH

  The Essenceof the - Three Mahavyahritis*are the* - **Three Syllables *of* Om-kara**:

  "A" "U" "M"

The **Three Lokas** - are the Three Worlds, Realms, or Spheres; which are: -

I.	**PRITHVI**	-	***Loka*** **-** *Habitable Environment of Planemos: which supports - Eco-system.*
II.	**ANTARIKSHA**	-	***Loka*** **-** *Interstellar Space: inc. Planets, Moons, Nebula, Belts, Clouds, etc.*
III.	**DYU -*Loka***	-	*All Stellar Bodies & Objects, & above; like Galaxies, Cosmic-Web, etc.*

Accordingly, the **Three Lokas** can be described as: -

PRITHVI	**- Geo-Sphere**;[2]	*Eco-Sphere;*	*Realm of Organisms*
ANTARIKSHA	**- Astral-Sphere**	*Planetary-Sphere;*	*Realm of Planemos & Sub-Stellars*
DYAUH	**- Celestial-Sphere**;		*Stellar-Sphere & Above; Realm of Stars & Above*

The Quintessencethese **Three Lokas**; i.e. and Gist of the Knowledge-system related to the Three Realms are said to be the **Three Vedas**: -

I.	**RIG - VEDA**	*- is the 'Quintessence' of -*	***Prithvi-Loka***
II.	**YAJUR - VEDA**	*- is the 'Quintessence' of -*	***Antariksha-Loka***
III.	**SAMA - VEDA**	*- is the 'Quintessence' of -*	***Dyu-Loka***

Accordingly, the **Three Vedas** can be described as: -

RIG Veda - *Knowledge of Materialistic Realm: Geo-sphere, Eco-sphere, & Bio-sphere.*

YAJUR Veda - *Knowledge of Action & Astral Realm: Planetary & Sub-Stellar sphere.*

SAMA Veda - *Knowledge of Spiritual Realm: Stellar, Galactic, &Divine sphere.*

The Embodiment of these **Three Vedas** are the **Three Stanzas *of* Gayatri Mantra**:

I.	तत्सवितुर्वरेण्यम्।	*- is the 'Embodiment' of -*	***Rig-Veda***
II.	भर्गो देवस्य धीमहि।	*- is the 'Embodiment' of -*	***Yajur-Veda***
III.	धियो यो नः प्रचोदयात्॥	*- is the 'Embodiment' of -*	***Sama-Veda***

Accordingly, the **Three Stanzas of Gayatri Maha-Mantra** can

be described as: -

- **तत्सवितुर्वरेण्यम्।** *deals with the Righteous Qualities to be assimilated here on Earth.*
- **भर्गो देवस्य धीमहि।** *deals with the 'Energy' and 'Brilliance' of the Astral Beings.*
- **धियो यो नः प्रचोदयात्।।** *deals with the aspect of 'Mind' and 'Cosmic-Mind'.*

The Extract of **Three Stanzas of Gayatri Mantra** are the **Three Mahavyahritis**:

I. BHU *- is the 'Extract' of -* तत्सवितुर्वरेण्यम्।

II. BHUVAH *- is the 'Extract' of -* भर्गो देवस्य धीमहि।

III. SWAH *- is the 'Extract' of -* धियो ये नः प्रचोदयात्।।

The **Three Mahavyahritis -** have just been formerly described.

The Personification of **Three Mahavyahritis** are the **Three Syllables *of* Om-Kara**:

I. "**A**" *- is the 'Personification' of -* ***Bhu***

II. "**U**" *- is the 'Personification' of -* ***Bhuvah***

III. "**M**" *- is the 'Personification' of -* ***Swah***

Accordingly, the **Three Syllables *of* Om-Kara** can be explained as: -

- "**A**" **-** *Meditative Chanting & Practice- bestows success in Materialistic & Corporeal affairs.*
- "**U**" **-** *Meditative Chanting & Practice - bestows success in Dominional& Astral affairs.*
- "**M**" **-** *Meditative Chanting & Practice - bestows success in Spiritual & Celestial affairs.*

Furthermore, the **Three Lokas**, and specifically, their inhabitants, i.e. - the **Three Mahavyahritis** - have been specified to be primarily driven by the **Three Devatas**;which aretheir respective - Three **Energy *Generating Processes***, *viz.*: -

I. AGNI - Combustion : *Redox;inc.**Metabolism***[3] *[Chemo-synthesis & Photo-synthesis]*

II. VĀYU - Radiation : ***Radioactive Decay****; and* ***Emission of***

Radiation.

III. ĀDITYA - Fusion : ***Nucleosynthesis***,[4] *Singularity, Gravitational-Collapse, Mind.*

Accordingly, the **Three Devatas**, *i.e.*the primary **Energy *Generating Processes*** are the primary 'Engines'that drive their corresponding - **Three Mahavyahritis** and **Three Lokas**, *viz.*: -

- **AGNI - Metabolism** : *is primary* ***Energy****-process of* - **Organisms**.
- **VĀYU - Radiation** : *is primary* ***Energy****-process of* - **Planemos** *&* ***Sub-Stellar Objects***.
- **ĀDITYA - Fusion**, *etc.* : *is primary* ***Energy****- process of* - **Stars** *& Above.*

The **Three Devatas** are the - **Thermodynamics** - of the **Three-Worlds** *&* **Lifeforms**.

These**Three Devatas**or **Energy *Generating Processes*** - inherently have their respective "**Vital Facilitators**"; which are intrinsically Indispensable and Crucial - for these Processes to take place. The primary **Three Vital Facilitators** are: -

I. PRĀNA - Oxygen : *or any other* -**Oxidiser**, during the process of Redox.

II. APĀNA - Helium : *or any other* -**Radioactive Emissions**.

III. VYĀNA - Hydrogen : *or any other* - **Object *of* Atomic Fusion & Gravitational Collapse**.

Accordingly: -

PRĀNA - Oxygen [*or any other* - **Oxidiser**:[5]] *is the* ***Vital Facilitator*** *of* -

- Agni : - ***Metabolism*** *&* ***Combustion***; which is the ***Energy Source*** of

- Bhu: - ***Organisms***.

APĀNA - Helium [*or any other* - **Radioactive Emission**] *is the* ***Vital Facilitator*** *of* -

- Vayu: - **Radioactive Decay** & **Emission of Radiation** : **Energy Source** of -

- Bhuvah : - **Planemos** & **Sub-Stellar Objects**.

VYĀNA	**- Hydrogen-**	**Object *of* Fusion & Gravity-Collapse**:	*is* ***Vital Facilitator*** *of* -
	- Aditya: -	***Stellar Fusion*** & ***Singularity***:	which is the **Energy Source** of -
	- Swah: -	***Stars*** & ***Galactic Black Holes*** -	respectively.

This is the concept behind the famous and high prevalent - ***Vyahriti-Ahuti***s - which are predominantly found in the Havana and Yajna - Mantras: -

1. ओं **भूः अग्नये प्राणाय** स्वाहा। इदम् **अग्नये प्राणाय** इदन् न मम।
2. ओं **भुवः वायवे अपानाय** स्वाहा। इदम् **वायवे अपानाय** इदन् न मम।
3. ओं स्वः **आदित्याय व्यानाय** स्वाहा। इदम् **आदित्याय व्यानाय** इदन् न मम।

Based on the Vaidicprincipal of: -

लोक-संमितोऽयं पुरुषः - **यत् पिण्डे, तत् ब्रह्माण्डे।**

which is popularly quoted as: - **यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे** ; Along with the Vaidic notion :

Plane		**Cosmic-ब्रह्माण्ड**	
लोकः	**पृथिवी**	**अन्तरिक्ष**	**द्यौः/स्वर्गः**
Realm	Geo-Sphere *i.e. Ecosphere*	Planetary-Sphere *& Space*	Stellar-Sphere *& above*
महाव्याहृतिः	**भूः**	**भुवः**	**स्वः**
Type of Lifeforms	Organisms	Planemos & Sub-Stellar Objects	Stars,Galactic Black Holes Cosmic Mind
देवता	**अग्नि**	**वायु**	**आदित्य**
Thermo-dynamics	Combustion	Radiation	Fusion
प्राणः	**प्राण**	**अपान**	**व्यान**
Vital Facilitators	Oxygen	Helium	Hydrogen
वेद/विद्या	**ऋक्**	**यजुः**	**साम**
Knowledge	Materialistic Knowledge	Astral Knowledge	Spiritual Knowledge

of -**"आध्यात्मिक-अर्थ"** *which is* the Spiritual significance and Spiritual interpretation of the - Vaidic Mantras, and Vaidic concepts; We can witness an elegant picture of - Vaidic Spirituality û emerging out of this - Vaidic Trinity.

Personal - पिण्ड			***Plane***
पृथिवी	**अन्तरिक्ष**	**द्यौः/स्वर्गः**	**लोकः**
Body - *predominant*	Psyche - *predominant*	Mind - *predominant*	***Predominance***
भूः	**भुवः**	**स्वः**	**महाव्याहृतिः**
Common *masses - Instinctive*	Ambitious *persons -Zealous*	Divine *persons - Inspirational*	***Type of Persons***
अग्नि	**वायु**	**आदित्य**	**देवता**
Motivation	Determination	Self-Inspiration	*primary* ***Mobilisation***
प्राण	**अपान**	**व्यान**	**प्राणः**
Motivator-Guru *&* Motivational-Texts	Hard-work	Pure Cognition	***Facilitator***
ऋक्	**यजुः**	**साम**	**वेद/विद्या**
Jnāna Worldly - Knowledge	Karma Action*&* Righteous Deeds	Upāsanā Devotion*&* Meditation	***Instrument & Catalyst***

The Table is brief, but fairly self-explanatory, to an extent. This provides a glimpse of the wisdom of the Vaidic sages; And in brief, can present an intriguing and astounding framework of: û Vaidic - Spirituality; Mind Management; Human-resource and Resource Management; and an overall Vaidic Management Principle: - All stacked within a single - ***Vyahriti-***Mantra.

Accordingly, besides providing a systematic preview of the Cosmos, and its working; this Vyahriti Ahuti Mantra also presents - **Three Types *of* Personalities**: -

1. The **Common Masses**: who are primarily - **Instinctive**, and

driven by **Sensual** and **Carnal Cravings**. They are predominantly - **Body-conscious** (*physical & sensual*), and engrossed in ***petty*** **Worldly-affairs**, such as - ***Family***, ***Profession***, ***Personal-Belongings***. They require constant **Motivation**; which is similar to the process of - '**Combustion**', wherein besides the û basic inflammable Fuel, it additionally needs to be '**Fed**' or '**Supplied**' with a constant supply of **Oxygen**; And primarily, it firstneeds to be**Ignited** or **Triggered**by an **External Source *of* Energy**; as it cannot 'Ignite' on its own. This process of Combustion sustains only for a relatively short-duration.

Similarly, people of this category, need to be constantly motivated by - Parents, Teachers, Friends, Spouse, Managers, Management and Spiritual - Gurus, Motivational-speakers, and Motivational, Ethical and Spiritual - Texts.

The amount of 'Energy released'and 'scope of Influence' of û 'Combustion' is relatively - Nominal or Low: and can be compared to a û Fossil-Fuel (Coal, Oil, Gas) powered **Combustion-*based*-Thermal Power Plant**û which has comparatively - **Low Thermal Efficiency**. This process generates a lot of waste like smoke and ash.

This is the category, in which most of the common public fall into.

They may be further ***reborn*** as Organisms, i.e. **Organic Beings**.

2. The **Ambitious persons** : are those who are primarily - **Zealous**, and are driven by a **Sense *of* Passion** *and* **Ambition**; and the **Desire *for* Achievement** *and* **Success**. They are predominantly - **Psyche-conscious** (*calculative, logical, and shrewd*), and are mainlyoccupied in aspects of**Dominional-affairs**, like ***Money***, ***Power*** and ***Fame***. They have - strong**Determination**,***Will-power***, ***Assertion***, and ***Self-Motivation***; which issimilar to the process of - Planetary '**Radiation**', that occurs due to '**Radioactive-Emissions**' or '**Fission**':Which naturally emits a constant-supply of ***Powerful Radiation*** and ***Energy***, without the requirement of any external Oxidiser, or Trigger. This process of Radiation or Fission also powers the Planets '**Accretionary-ability**'; andsustains the Planet for a relatively long duration.

Likewise, people of this category, radiateimmense Enthusiasm, Energy, and perform extensive **Hard-work**. They can readily motivate and energise - other people around them, and galvanise large resources; And being go-getters and achievers, they largelysucceed in their objectives and ambitions. As they are self-motivated, they do not need external

motivation.

The amount of 'Energy released' and 'scope of Influence' of - the 'Radiation' from 'Fission' is multifold times higher than *Combustion*, and so can be graded as - Medium or Large. Thisprocess can be compared to a - Radioactive-Fuel-powered **Fission-*based*** -**Nuclear Power Plant** - which has comparatively - Medium to **Large Thermal Efficiency**. Even though, quite efficient, this process generates a lot of radioactive waste.

This is the category which encompasses the great - Achievers, like the great û Emperors, Rulers, Generals, Revolutionaries, Institution and Organisation Builders, Clan-heads, Leaders of Massive Movements, Orators, Debaters, Corporate Entrepreneurs, Sports-persons, Creators, Builders, etc.

The most successful among themmay be further ***reborn*** as û **Planetary Beings**.

3. The **Divine Persons**: arethose who are inherently - **Inspirational**, and are intrinsically driven by **Kindness**, **Compassion**, **Magnanimity**, **Selflessness**, **Benevolence** and ***pure*** **Love**. They are predominantly - **Mind-conscious** (Knowledgeable, Devoted, *&* Meditative), and devoted to **Spiritual-affairs**, such as - ***Truth***, ***Knowledge***, ***Meditation*** and ***Austerity***. They possess immanent**Self-Inspiration**; which is similar to the process of - Stellar '**Fusion**': thatgets spontaneously kindled, when there is a substantial amount and density of relatively pure substance; *i.e.* an excessively high proportion of the most primary element - Hydrogen, in its significantly pure state. This process has the extraordinary ability to '***Attract***', or ***Gravitationally*** '**Collapse**' (*within itself*), and '**Condense**' - an exceptionally abundant amount of matter. Hence, extraordinarily highlevels of Pristinity and Purity is a fundamental characteristichere. This process of Fusion sustains for an extremely far longer duration.

Correspondingly, people of this category, are those who fundamentally nurture a Pristine and Tranquil Mind, which is not contaminated and perturbed by*Worldly Cravings*, or *Dominional Desires*.Hence, any 'Aspiration' that arises in the plane of such apure and immaculate Mind - can spontaneously and effortlessly - 'Attract', 'Collapse', 'Captivate' and 'Influence' - an immensely large amount of surrounding - energies, forces, circumstances, occurrences, and

resources; And simultaneously 'Inspire' many people; who may together collaborate - to facilitate themanifestation of the - divine and selfless 'Aspiration'. The 'Enlightenment' and 'Brilliance' of such a 'Divine person's' Mind is homologous with the 'Luminosity' and 'Brilliance' of a Star. The amount of 'Energy released' and 'scope of Influence' of - Stellar 'Fusion' is manifold times higher than *Radiation*, and so can be graded as - Massive. This can be compared to a Hydrogen-powered **Fusion-*based*** - **Nuclear Power Plant** which comparatively has - **Enormous Thermal Efficiency**, and generates almost NO harmful waste.

This is the category which encompasses the wise and sagacious - Sages, Yogis, Hermits, Philosophers, Scientists, Thinkers, Poets, Savants, etc. They may be further reborn as - **Stellar Beings**, **Galactic Beings**, or in **even higher realms**.

The well-laid-out 'Hierarchy in Cosmos' - is the primary reason - due to which the Universe is running - successfully, highly-productively, spectacularly, and efficiently - for billions of years, till now; and is expected to run for many-many more billions or trillions of years, similarly in the future. Hence, this Hierarchy also presents the ultimate - 'ideal example' for any Organisation here on Earth.

Therefore, this classification of the - 'Hierarchy in Cosmos and Types of Humans': can also be adopted to showcase an **Ideal Work-Culture of an Organisation**, and define the essential qualities of its various **Levels of Human Resource**; *viz.*: -

1. **Worker** - i.e. Base-level Job-Executer *or* Executive - are those who needs to be constantly **Motivated**; by which each of them can become highly **Productive**; like an - highly **Efficient** - Internal-Combustion-Engine. Also, they should work in **Tandem** with all-others like - **Ants** and **Bees**, who are one of the best example of well-organised **Organisms**.

2. **Supervisor** - or Mid-level Executive *&* Management - are those who essentially needs to be Passionate and **Zealous**; and have the ability to **Motivate** and Mobilise resources and people, by means of: - proactive **Leadership**; and **Determination**to achieve objectives; and by example of sheer **Hard-Work**. They also need tomutually work in perfect **Harmony** - like the **Planets** that seamlessly revolve around a Sun (*or Stellar system*); while they simultaneously -

gravitationally balance - not only their subordinate Moons, but also the other Planets, Dwarf-Planets, etc. Further, Planets are also known to effectively organise and regulate the resources (*asteroids, clouds, belts, comets, etc*.) within their domain of the Solar System. A Supervisor should also be like a Mother to the Workers, just like a Planet is to Organism; by providing a healthy and resourceful work-environment, just as a Planet provides a conducive, resourceful and protected Environment and Eco-system to its inhabitant Organisms.

3. **Manager** - or Senior-level Executive *&* Management - who inherently needs to be an **Inspirational** personality; and possess the ability to **Inspire** people by his - **Vision**, **Mission**, **Knowledge**, **Wisdom**, **Composure**, **Magnanimity**, and **Compassion**. He must have the ability to 'Attract' and '**Captivate**' (*not capture!*) vast amount of Resources; And **Groom**and **Nurture**many able and powerful Leaders and Chieftains; like a Sun (*or Stellar system*) - which readily facilitates the formation of numerous big and small Planets around it; And further, **Organises** all the Planets and Dwarf Planets in their respective paths, so they do not clash with each other; And constantly**Energises** these Planets, by which they are in-turn are adequately empowered tocompetently, and efficiently - organise, energise, and **Autonomously** develop their own respective domains.

   Going further, the Galactic Black Holes or Super Massive Black Holes at the center of - Galaxies, and even Galactic Super-Cluster-Complexes: - which control a few Thousands, to Millions of Billions of Stars; - with their enormously powerfully 'Singularity' and 'Galactic-scale' Creative and Organisational capability - are greater Examples and Ideals for the - Highest-Level Management like the - MD, Chairman, Prime-Minister, President, King or Emperor.

This is only a glimpse of the enormous depth and profundity of the Vaidic concept of Management. This topic has an enormous scope of further study and elaboration.

So, it can be concluded that, the principle of the - **Vaidic Trinity**: which includes: -

1. **Three Mahavyahritis** - **Bhu**, **Bhuvah** *&* **Swah**; *and* -
2. **Three Gunas** - **Sattva**, **Rajas**, *&* **Tamas**;

- besides providing aphenomenally new dimension to **Modern Science**, i.e. specifically - **Modern Cosmology**, **Particle Physics**, and

Evolutionary Biology; Can similarly present a remarkably new dimension to the subject of - **Management**, along with Psychiatry, Psychology, Sociology, and Anthropology too.

Three types *of* Deities *and the* **Three Colors *of* Ajā :**

and the **Three Gunas *of* Snkhya :**

Another fundamentally important constituent of the - **Grand Vaidic Trinity**is the - **Three Deities**, which have been categorically û closely equated with the **Three Lokas**:

I.	**VASU** - *equated with* -	**Prithvi**	*i.e.* - **Geospheres**.
II.	**RUDRA** - *equated with* -	**Antariksha**	*i.e.* - **Planemos & Sub-Stellar Objects**.
III.	**DITYA** - *equated with* -	**Dyu**	*i.e.* - **Stars & Galactic Black Holes**

Closely associated with the **Three Deities** - are the - **Three Progenies** *or* **Prajh**; and the - **Three Colors** *or* **Rūpas**:

I.	**ANNA - KRISHNA -Black color**	- **Prithvi** : **Geospheres**
II.	**ĀPAS - ROHITA -Red color**	- **Antariksha** : **Planemos & Sub-Stellar Objects**
III.	**TEJAS - SHUKLA - White color**	- **Dyu** : **Stars & Galactic Black Holes**

These **Three Colors** *or* **Rūpas** : have also simultaneously been associated with the **Three Colors *of* - Ajā** :

अजाम् एकां लोहित-शुक्ल-कृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।

।।श्वे०उ० 4.5। तै०उ० 6.10।।

These **Three Colors *of* Ajā** - are hailed by the ancient Sānkhya tradition to be the fundamental Vaidic foundation of the - **Three Gunas** *of* Sānkhya :

I.	**TAMAS - Krishna** - ***Anna*** - ***Prithvi*** - ***Bhu***	*: Ecospheres*
II.	**RAJAS - Rohita** - ***Āpas*** - ***Antariksha*** - ***Bhuvah***	*: Planemos & Sub-Stellar Objects*

III. SATTVA - Shukla - ***Tejas*** - ***Dyu*** - ***Swah*** *: Stars & Galactic Black Holes*

All these Trinities together form the basic foundation of the -

Grand Vaidic Trinity

Loka	Prithvī	Antariksha	Dyauh
Devata	Agni	Vāyu	Āditya
Prāna	Prāna	Apāna	Vyāna
Veda	Rig-Veda	Yajur-Veda	Sama-Veda
Stanza *of* Gayatri	**तत्सवितुर्वरेण्यम्**	**भर्गो देवस्य धीमहि**	**धियो यो नः प्रचोदयात्**
Mahavyahriti	Bhu	Bhuvah	Swah
Syllables *of* Om-kara	'A'	'U'	'M'
Deities	Vasu	Rudra	Āditya
Progeny	Anna	Āpas	Tejas
Color	Krishna	Rohita /Lohita	Shukla
Guna	Tamas	Rajas	Sattva
Subject	Ādhi-Bhautika	Ādhi-Daivika	Ādhytāmika
Topic *of* Veda	Jnāna	Karma	Upāsanā
Dimensions *of* Nature	Matter	Energy	Mind
Types *of* Lifeforms	Prajā	Pitara	Deva
Types *of* Lifeforms	Organisms	Planemos	Stars & above

Grand Vaidic Trinity - *the foundation of* - Karma-kanda :

The whole **Vaidic Fire Ritual** - i.e. chiefly the **Shrouta**, and also the **Smarta Yagas** - are fundamentally founded upon, and absolutely revolves around this - **Grand Vaidic Trinity**. This is evident from the fact that - absolutely All Shrouta Yagas - however small or massive, is

fundamentally based upon the basic - **Three Fires**: -

I.	**GRĀHAPATYA**	**Agni** : *Fire of* - **Manushya** *(Prajā)*		*- Humans (Organisms)*
II.	**DAKSHINA**	**Agni** : *Fire of* - **Pitara**		*-Planemos & Sub-Stellar Objects*
III.	**ĀHAVANĪYA**	**Agni** : *Fire of* - **Deva**		*- Star, Galactic Black Hole & above*

Likewise, there are basically - **Three Active Priests** *i.e.* **Ritviks**;[6] and their corresponding **Three Main Procedures**: -

I.	**HOTA - Ritvik** : *&* **HAUTRA**	**- Karma** : *Priests of* -	**Rig-Veda**
II.	**ADHWARYU - Ritvik** : *&* **ĀDHWARYAVA**	**- Karma** : *Priests of* -	**Yajur-Veda**
III.	**UDGT - Ritvik** : *&* **AUDGTRA**	**- Karma** : *Priests of* -	**Atharva-Veda**

Similarly, there are essentially - **Three Ritualistic Sessions** *i.e.* **Savanas**: -

I.	**PRĀTAH**	**- Savana**:	*which is dedicated to*	- **Agni** *&* **Vasu**
II.	**MĀDHYANDINA**	**- Savana**:	*which is dedicated to*	- **Vayu** *&* **Rudra**
III.	**TRITĪYA**	**- Savana**:	*which is dedicated to*	- **Āāditya** *&* **Āditya**

Similarly, there are principally - **Three Ritualistic Chantings** *i.e.* **Stotriyas**: -

I.	**PURONUVĀKYĀ**	**- Stotriya**:	*is linked to*	- **Rig-Veda**,	**Prāna**, *&* **Prithivī**
II.	**YĀJYĀ**	**- Stotriya**:	*is linked to*	- **Yajur-Veda**,	**Apāna**, *&* **Antariksha**
III.	**SHASYĀ**	**- Stotriya**:	*is linked to*	- **Atharva-Veda**	**Vyāna**, *&* **Dyauh**

These are just a few examples presented here. A more extensive list of references has been presented in the main chapter. Similarly, in the case of the ***Smarta Yagas*** too, which encompass the - *Homas* and *Sanskaras*, and which are generally speaking- simplistic derivatives of the Shrouta; are grounded in the Three Mahavyahritis, Three Pranas, and Three Lokas: as previously exhibited.

Accordingly, it is evidently concluded that - The elaborate - *Yajnik* System, that comprises the *Shrauta* and *Smarta*- Rituals, collectively known as the - *Karma-Kanda*, is completely based on this - **Grand Vaidic Trinity**. Hence the ***Chandogya*** proclaims: -

॥ एष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद॥

One who has understood this 'Triadic classification' of Yajnas; has understood the secrets of Yajna!

Grand Vaidic Trinity - and the Three Clans of Gods - in Nirukta:

॥ तिस्त्र एव देवता इति नैरुक्ताः॥

The ***Nirukta*** classifies **Totally All Vedic Gods** into the - **Three Cadres *of* Deities**: -

I.	**AGNI - Bhakti**:	**- Prithivi**	**- Sthānī+**: - *tribe of* - **Agni**
II.	**INDRA - Bhakti**:	**- Antariksha**	**- Sthn+**: - *tribe of* - **Vāyu** *or* **Indra**
III.	**ĀDITYA - Bhakti**:	**- Dyu**	**- Sthānī+**: - *tribe of* - **Āditya** *or* **Sūrya**

Grand Vaidic Trinity - *encapsulates all* - Manifestation *or* Creation-

***i.e. absolutely all* 'Vikriti' *of* 'Prakriti' *as per* Snkhya :**

Absolutely All "**Vikriti**": *i.e.* In Totality, All the - existing, former, future, and possible forms of - **Manifestations** and **Creations**,including All forms of - **Evolutions** and **Formations**; - of **Nature** i.e. "**Prakriti**" are encompassed within this - **Grand Vaidic Trinity**. The Grand Vaidic Trinity - without any exceptions, encapsulates absolutely - **All Existential and Manifested Reality** - in the Cosmos; which includes All forms of : Mind, Energy and Matter.

Three - Mahavyahritis *gives rise to the* - Seven - Vyahritis & Lokas:

तिस्त्रोमहा-व्याहृतयः Three Maha-Vyahritis		सप्त व्याहृतयः-लोकाःच Seven Vyahritis & Realms	पञ्च लोकाः Five Realms
1. भूः [पृथिवी]	***Bhu-Prithivi***	1. भूः भूर्लोकः ***Bhu***	1. भूर्लोकः - *Realm of* - ***Bhu***
2. भुवः [अन्तरिक्षः]	***Bhuvah - Antariksha***	2. भुवः भुवर्लोकः ***Bhuvah***	2. अन्तरिक्ष-लोकः *Realm of-**Antariksha***

	3. स्वः स्वर्लोकः ***Swah***	3. माहेन्द्रलोकः *Realm of -* ***Mahendra***
	4. महः महर्लोकः ***Mahah***	4. प्राजापत्य- *Realm* लोकः *of-**Prajāpati***
3. स्वः ***Swah - Dyauh***	5. जनः जनलोकः ***Jana***	5. ब्राह्मलोकः- *Realm*
	6. तपः तपोलोकः ***Tapas***	*of* ***Brahma***
	7. सत्यम् सत्यलोकः ***Satya***	

Sl.	**Vyahriti** *&* **Loka**		**Inhabitants**	
1.	**Bhuh**	**- Loka** **Prajās**	Organisms	- *Organic* - *Beings*
2.	**Bhuvah**	**- Loka** **Tārās [Pitarah]**	Planemos	- *Planetary* - *Beings*
3.	**Swah**	**- Loka** **Mahendras**	Stars	- *Stellar* - *Beings*
4.	**Mahah**	**- Loka** **Prajpati***s*	Galactic Black Holes	- *Galactic* - *Beings*
5.	**Jana**	**- Loka**	Matter - *dominant* Cosmos	- *Cosmic* - *Progenitor* - *Cosmic* - *Being*
6.	**Tapah**	**- Loka** **Brahma**	Energy - *dominant Cosmic*	- Cosmos - *Creator*
7.	**Satya**	**- Loka**	Mind - *dominant Cosmic*	Cosmos - - *Mind*

(Footnotes)

1. How viruses destroy bacteria; Date: November 19, 2009; Source: Texas A&M University; https://www.sciencedaily.com/releases/2009/11/091118143221.htm
2. A Planemos - Crust (like Earth's Lithosphere and Hydrosphere) and of the lower parts of its Atmosphere (like Earth's Troposphere).
3. Metabolism: is basically a type of slow Combustion process; i.e. an Exothermic Redox Reaction.

4. Stellar - Nucleosynthesis; Black-Hole - Nucleosynthesis, & Primordial - Nucleosynthesis.
5. Oxygen is by far - the most predominant and prevalent - Oxidiser, or Electron Acceptor, during the process of Redox, including Combustion & Metabolism However, there are also other Oxidiser or Electron Acceptor, Like - Carbon-di-oxide in Photosynthesis; & Sulfur in Anaerobic Respiration.
6. Brahma - the fourth Ritvik is Not an Active Ritvik; He is mainly an Observer.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (80-92) January-June 2019 ISSN 2277-4351

In the beginning 3: One or many... (In the Beginning - the start of Philosophy in the *Rigveda*)

-Dr Nicholas Kazanas

Director of Omilos Meleton,
Cultural Institute, Athens, Greece

0. Contrary to modern mainstream belief that religiophilosophical beliefs developed from primitive crude ritualistic nature-worship and/or animism to polytheism, henotheism, monotheism (a Sky-father-god or Mother-goddess) then monism, this paper argues that in the *RV* (Ṛgveda) the opposite is true. Some rigvedic sages knew that all forms of divine power and all manifestations are expressions of One Supreme Being, neither male nor female and from this descended or developed other forms of philosophy, religion, ritual, myth and superstition.

1. In my paper "In the beginning" (No 1 in this series), I indicated with ample evidence that academics mistranslate generally the Rigvedic hymns. While their translations may be linguistically impeccable, although even this aspect is not always right, their understanding of the spirit of the hymns is vitiated by the prevalent prejudices in Indology and their own lack of connexion with the esoteric side of the texts.

Franklin Edgerton is no exception. As I wrote in the second paper (§6) he was a distinguished academic and an excellent sanskritist and his translations are better than most. But he ignores the esoteric or philosophical-psychological aspect of most hymns. Like many other academics he ignores totally the fact that some hymns state the soma rite to be, apart from the usual sacrifice, also an inner psychological process, as I mention in the same paper (§5: e.g. hymns 9.73.8, 9.113.2). Academics cannot unfortunately shake off their pedantry: they get dizzy themselves in the joys of piling up references, dotting down footnotes and often foisting specialized terms (which they think "scientific") and ignore the subtler and more substantial meaning (as in Edgerton 1965: 25). All of us find it very difficult not only to shake off our pet notions, when shown to be

wrong, but even to recognise that we entertain these and other prejudices. As I wrote in the earlier papers "In the beginning 1" and "2", such prejudices are the Aryan Invasion/Immigration Theory and the evolution of religion from a crude form (e.g. animism) to more refined ones (e.g. monotheism).

In the hymns of *RV* and *AV*, writes FE (=F. Edgerton, p 25) "Often the One is a sort of demiurge, a Creator, Father, First Cause" - and here he cites AV 2.1.3. and 11.8.8-9. He is right of course linguistically, and the verses say: 'He our father, our generator, and the (cosmic) Connection, knows the stations and the worlds all" (as Edgerton translates on p 79 the hymn of Vena). The second reference he cites (Hymn of Vena) can be disregarded here as the two stanzas are lists of names of gods (Indra, Soma etc) and have nothing to do with the One being, a Creator etc. Even if we accept the rendering of *bandhu* as '(cosmic) Connection' (and the reference FE gives to 1.129.4 where *bandhu* occurs too) and not 'kinsman', which makes just as good sense, surely there is nothing here other than poetic tropes: the poet is using different terms to suggest the One Lord's relation to the manifest worlds and beings.

But our academic continues: "Such theistic expressions may be used of impersonal monistic names for the One as well as of more personal quasi-monotheistic ones" (p 25). It is obvious that he splits hairs here in typical quasi-scientific pedantry. The poet uses different terms not confusing, as FE suggests, or being unclear about, monotheism and monism, but in order to help people of different dispositions (devotional, intellectual, emotional, gnostic, given to activities or quietism etc) understand the presence of a Supreme Power, both transcendent and immanent.

That there is a derogatory tone and a tendency to downgrade most of the statements of the rishis is revealed here by the "quasi-monotheistic" and elsewhere by the "speculations" and his ascription to them of a naïve and/or superstitious belief that knowledge of names gave them magic powers (pp 21-24). There again FE is right in relation to later texts but the Rigvedic sages exhibit real powers in many hymns and perform what to us seem utterly incredible and mythical miracles: e.g. the miraculous deeds of the Ṛbhus (e.g. 1.20.2; 4.33.2; etc); the parting of the river waters by the seer Viśvāmitra (3.33); Vāmadeva's identification with Indra, Manu and Sūrya (4.26.1); Atri's rehabilitation of the sun (5.40) or his salvation by the Aśvins (5.78); different rescues by Aśvins; etc. Just because we do

not understand what is involved and certainly cannot use the power of Language in a "magical" way, it does not mean that those sages could not. A little open-mindedness and humility on our part would not hurt!

2. A major difficulty with academics and most writers in this field is their failure to appreciate that the *RV* and *AV* hymns are poems, selected collections from a vast, shifting current of such creations. Most obviously, they are not treatises, handbooks, essays or dissertations on Vedic religious dogma or philosophical teachings or world-views. Consequently, the hymns do not contain systematic formulations of the thinking and the events of that distant period, which may well have covered several centuries if not a millennium. Moreover, they are composed (or "seen" or "heard") by different rishis, not only at different periods but also at different locations. Saptasindhu, the Land-of-the-Seven-Rivers around Indus and Sarasvati, was a vast area! We have some clear statements and some good hints but too much is enigmatic because we no longer have the necessary information. To claim that apart from some obvious riddles and playful tropes, many stanzas are deliberate enigmas in poetic contests is absurd: even at the time of the Brhma Gas much of the import had been lost and for this reason the compilers of those texts thought it necessary to provide narratives that explained the laconic references in the hymns and so to fill the gaps of information. The same was done by later works like the *Nirukta-Nighaṇṭu* and the *Bṛhaddevatā.*

Let me illustrate my meaning with an example from recent times. I take the well-known sonnet *England in 1819* by P.B. Shelley. I select just four lines (1-2,5,7):

An old mad, blind despised and dying king,
Princes, the dregs of their dull race...É
But leech-like to their fainting country cling...É
A people starved and stabbed in the untilled field...É

To one uninitiated these statements may well sound highly enigmatic and he/she may well come up with a theory that the poet is competing with others and spinning off riddles. But all who know the history of England of that period find these lines very meaningful. The King is George 3rd, mad and dying. The Princes are the aristocracy, comprising mostly a self-indulgent and stupid caste, remaining in power and having wealth thanks to a long tradition of exploiting the land and the people often with suppression. And the last line refers to Peterloo, the massacre

of over 600 innocent men, women and children, by the local Yeomanry, who had gone to arrest the speakers at a peaceful meeting of the people seeking parliamentary reform. We know these details because we have ample documentation. Anyone can read the history of the period and learn the facts.

Unfortunately we have no documentation for the Vedic Age other than the hymns themselves. It is therefore bad scholarship to select statements from the hymns that fall within one's favorite frame of beliefs or the prevalent theories and prejudices of our times and ignore other apparently dissimilar statements or interpret the latter according to our own specific beliefs and prejudices and speculations.

3. Back to our academic. FE continues his theorizing that the poets and priests grope and "speculate" from the early polytheism or "animism" or whatever towards some satisfactory concept of the One. But "here again their suggestions are many and varied" (p 25 top). In §1 I gave an example of this. FE goes on, however: "The One is compared to a carpenter [*RV* 10.81.4], or a smith [10.72.2; 10.81.3]... or his act is like one of generation: he begets all beings [10.129.5 which seems to compare the acts of generation to a sexual act]". (All these square brackets are by me but are given by FE in footnotes; the emphasis on 'seems' is mine.) He adds also that the Creator's "activity" is compared to a sacrifice, a ritual performance [*RV* 10.81.1]."

All this is quite true, of course, and is illustrated by hymn 10.81. In his presentation of this hymn (p 61) FE describes the Creator Viśvakarman 'All maker' as a "new quasi-monotheistic demiurge", as he has done elsewhere. Except that the "quasi-" is unwarranted. And I find it strange that this scholar does not seem to appreciate the art of the Vedic poets which, after all, is not very different from good modern poetry.

In 10.81 the Supreme, which here is named Viśvakarman, is presented in different guises and given different epithets. Thus in stanza 1 he is father (*pitā*), ṛṣi, sacrificer and officiating priest (*hótṛ*) in a sacrifice; in st 2 he is all-maker (*viṣvākarmā*), brings forth the earth, reveals heaven and is all-seeing (*viśvacakāṣḥ)*; in st 3 he faces and observes all sides, has arms and legs extended on all sides and [like a smith] this One God (*devā ékaḥ*) blows and smelts (*dhamati*) with fan-bellows sky and earth; in st 4 he fashions (*nis-takṣ*) like a carpenter (or wood-carver) out of timber (*vāna* and *vṛkṣā*) sky and earth and the worlds; in stanzas 5 and 6 he performs a

rite and sacrifices himself yet growing great (*vāvṛdhānáḥ*); in st 7 he is the Lord of Speech (*vācás páti*, suggesting perhaps creation through the Word) and mind-inspirer (*manojū́*-).

To my mind there is not the slightest doubt that the poet extolls all the time the One Supreme trying out different images and suggesting the different qualities and powers of this All-maker. I don't see the slightest effort or movement from the Many to the One. It is the One all along presented in different forms and figures (smith, carpenter, sage, father etc)! Again, let us consider an example from 20th century poetry. I take some lines from T. S. Eliot's *Four Quartets*, from "Burnt Norton" section II, the beginning:

The trilling wire in the blood...É
The dance along the artery
The circulation of the lymph
All figured in the drift of stars...

The first three lines give us in three disparate images (trilling wire, dance, circulation) the motion of the blood and its sensation, then the fourth line says this is reflected in the motion of the stars. The poet is not groping towards some theory or speculating about the motion of the stars: he presents different images of the same motion that are drawn from current knowledge and experience.

The Vedic poets do the same. They give poetic images, metaphors, similes, personifications, hyperboles (plenty of those) and all other figures and tropes from the store of knowledge and experience current at that period. And as the distinguished indoeuropeanist Calvert Watkins put it - "The language of India from its earliest documentation in the *Ṛgveda* has raised the art of the poetic figure to what many would consider its highest form" (2001:109). The Russian vedicist, Mrs T Elizarenkova, had a few years earlier shown with much descriptive analysis that the Vedic poets had indeed raised poetry to the very highest form (1995). I myself, utilizing such previous studies wrote a paper on the all-comprehensiveness of the poetry of the *RV* (Kazanas 2015: ch 3).

4. Hymn 10.81 contains other interesting aspects.

Stanza 2 sets questions: "What was the base, one may ask, indeed?" *kím svid āsīd adhiṣṭhā́am.* "And how was done all this enterprise (*ārámbhanam*) - the manifestation of this earth and the unfolding of the

sky?" The poet may perhaps express genuine not-knowing of that very first act of creation/generation/manifestation; he may be filled also with genuine wonderment at the mystery and wishes to infuse this wonderment to his listeners: what indeed was the starting point, the material basis and the method or process?

Having given the figure of the smith in st 3, he gives the figure of a wood-carver in st 4, but again with questions. What was the forest, what the tree or wood (*vṛkṣá* and *vána*) with which he fashioned out sky and earth? If he worked like a carpenter what did he stand on, or what was it he ascended/superceded (*adhyátiṣṭhat*) supporting the worlds and beings? O you intellectuals, do ask yourselves about this!...É BUT note, all you good readers, that in st 2 the poet had already hinted at how the All-maker had done all this: *mahin viśvácakṣāḥ* 'with [his own] power casting-his-eye-on-all'; and the poet expands this in concrete images saying in st 3 'on all sides (*viśvátas*) he had eyes, visage, arms and legs, so he fanned-out sky and earth fully (*sām*) with arms like bellows/wings (*pātatraiḥ*) this One God!' In st 3, we have the personification of a supernatural smith (an image common in other cultures), but the poet has already said that the Creator had manifested the world by his might through mere looking û here *cakṣ*, later in the Upanishads *dṛś*.

Hymn 10.82 also has as its subject the All-maker *Viśvakarman.* Here too the one god by/from whom all worlds are produced is said to be beyond the (constellation of the) Seven Sages (st 2), beyond heaven and earth and the Gods Asuras (st 5), set upon the navel of the Unborn (st 6). Stanza 5 also posits a question: "What was that first Embryo [i.e. the seed] *gárbha* which the waters bore...É? - and from whom was produced all this creation?... É He indeed [i.e. Viśvakarman] was that embryo. Here, however, as in several other hymns there is a distinction between the one god/garbha who as the All-maker fashions the worlds and beings and the real Supreme One which is Unborn *ajā*! In 10.129.1-3 also we find the One which simply breathes by innate power without air and that which becomes/evolves *ābhú* producing desire and other forces and the creation.

5. Questions of wonder and riddles occur in other hymns as well, e.g. especially 1.164 (*asyá vāmásya...*).

Of much significance and similar to 10.81 and 82 is also hymn 10.72 (as some other hymns, but we must select, otherwise the discussion would become overextended).

FE considers this hymn "rather superficial" and "of no great interest" (p 60). His judgement here is another indication of his imperfect understanding of the import of the hymns. Wholly bent on speculation as he is and on the evolution from primitive to sophisticated, as he sees it, he finds three points worthy of note: the existent derived from the non-existent; Dakṣa being born from Aditi and Aditi from Dakṣa; and ("the most original trait"!) the Mother-Goddess giving birth *uttānápad* - "with legs out-stretched".

Let us look at it. In the second stanza Brahmaṇaspati 'Lord of holy power/speech', like a smith blew/fanned/smelted (*adhamat*) the gods (or heaven and earth or the worlds) simultaneously together (*sam*). In that first age of the gods the existent (*sat*) was manifested from the non-existent (*ásat-aḥ).*

This last statement is taken by most academics as indication that the ancient seers thought creation was produced from non-existence, from nothing, *ex nihilo* (as Christian theologians assert about their own creator-god), contrary to *Chāndogya Up* 6.2. which says that the existent cannot emerge from non-existence - and many other passages in the Upanishads which say that the creator creates/emits the ray of creation (*sṛj-)* out of his own substance (like a spider)! Here these academics display again pedantry and defective thinking. St 2 starts with Brahmaṇaspati creating like a smith (*karmā́ra iva*)! A smith has his bellows, fire and metal and, **surely, it is out of these materials that he fashions his products, not out of non-existence**. Obviously then, here, *ásat* signifies "non-manifest", not absolute non-existence - and the verb √*jan-* (>*ajāyata*) signifies manifestation or bringing from non-visibility or non-apprehension, into visibility or apprehension. St 2 is as follows: - "*bráhmaṇaspáti*, the lord of prayer/ sacred-speech, like a smith blew/fanned-out together [all] these (*etā́ḥ*) [worlds]; in the earlier/primal (*purvyé*) age of the gods existence was manifested (*ajāyata*) from non-existence".

Rather surprisingly, some translate *etā́ḥ* (which is plural) as dual, heaven and earth, which would have been *eté*! (E.g. O' Flaherty 1981: 38.) The first of st 3 repeats more or less what was said in st 2 but now adds that this manifestation was followed by the manifestation of the *ā́śās* 'the regions' or probably 'the dimensions of space-time'.

The mutual birth-giving in Aditi-Dakṣa-Aditi (st 4-) is not really problematic if we bear in mind the wisdom and wit of these poets. Aditi is

the otherwise indescribable Infinite, the unlimited Unmanifest. From that rises creative Dexterity *dakṣa* and from this now is produced the infinite space-time continuum in which all other manifestations will exist and move. This *dakca* corresponds to the *ābhú* 'the evolvent' in 10.129.3c or the "embryo" *gárbha* which supports all worlds in 10.82.6. Here it has been said that *bhú* 'becoming, evolvent' (often but wrongly rendered as 'earth, world') emerged/manifested (*ja-jna* < *jan*) from the unmanifest *ásat,* Mother Aditi, and from this *bhú* the *áśās* 'dimensions, regions', i.e. the continuum. Following this continuum the good gods themselves manifested, the shining creative powers that would generate the widening world-spheres and the sun. Stanzas 4-7 repeat in more detail the laconic statements in stanzas 2 and 3. (There are sexual hints, of course, with female fecundity (*aditi)* and virile creativeness (*dakṣa*) since sexuality was not unknown to the Vedic people; but to focus on this as if this is of primary importance, as many modern writers do, betrays their own predilections.)

Stanza 6 presents the gods as clasping closely one another and as if dancing (*nṛt-*) in *salilá*. This is "water, ocean" in later texts but, as I argued in the first essay (in section §5, end), in the hymn 10.129.3 it signifies "fluctuating energy". And so it must do here, since nothing material has yet been generated. It is the gods dancing as it were in this fluctuating continuum that generate the *reṇú* 'dust, pollen, particles' with which, like magicians (*yáti-*), they made the world-spheres swell out (st 7) and then brought forth the sun (as the orb, hidden in the ocean rises from it).

Stanzas 8 and 9 deal with the sun, which the gods drew forth as they expanded the worlds. This was Aditi's eighth son, the Mārtāṇḍa 'dead-egg' or 'the sun-god born of an egg', whom she casts away. With seven sons Aditi went forth to that earlier age and brought again the being Mārtānda for generation *prajyai* and death *mṛtā́ve* - his own and that of other creatures. This is both the rising and the setting of the sun and man's (and other creatures') birth and death. And since the sun rises and sets recurrently, there may well be a suggestion here that man too reincarnates from one life to another. Poetry does suggest: implication and suggestion *lakṣaṇā* and *vyañjanā* are among its primary functions.

So the hymn is anything but superficial.

6. I shall now proceed to examine the elements of monism found in the *RV*. Many of these appear in the earlier books, before book 10. It

seems to me strange that I should have to do this, but, obviously, most academics don't want to understand this.

The principle of the Unity of Being or monism is expressed very clearly in the well-known hymn 1.164. What strikes me at first is the humility of this extraordinary sage Ucathya Dīrghatamas who in st 5 says unhesitatingly "I, myself being *pāka* 'naïve, simpleton, unripe' and not discerning with my mind, I askÉ" He repeats this in st 6:

ácikitvāñ ciketuúṣaś cid-atra kavī́n pṛchaāmi vidmāme ná vidvā́n।
ví yás tastámbha ṣáḷ imā́ raájāüsy ajásya rúpé kím ápi svid ékam॥

'Not having realised and not knowing, I, for the sake of knowing, ask the wise-poets who have realised here: What is the One really, which in the form of the Unborn established each-and-all (*v'*) the six dimensions'.

Many, including Jamison & Brereton, inform us that the One is the sun (p 355) but do not bother to say what the six *rájāüsi* 'regions/quarters' are. How can the sun who definitely appears every morning to be born out of the darkness (or some ocean) be "unborn"? And how does it *vi-stambh-* 'establish, fix, prop, support' the (unknown) six regions? We could understand three such - sky, midspace and earth (or three times three); also four - the areas east, south, west and north (or eight taking the in-between adjacent areas). But six? We know of six seasons *ṛtu* and tastes *rasa*, but not regions. Having respect for the rishi's wisdom, I translate "dimensions" - three of space and three of time. As for the One Unborn, it is the One which the sages call by many names, including the Sun, or divine bird, st 46:

índraü mitráü váruṇam agním āhur átho divyáḥ suparnó garútmn/
ékaü sád víprā bahudhā́ vadanty agníü yamáü mātariśvānam āhuḥ //

'They call [it] Indra, Mitra, Varuṇa, also the heavenly fine-feathered bird (Sungod). Though it is is One, the wise poets speak of it in many ways - Agni, Yama, Mātariśvan (=Vāyu 'air, wind').'

In 10.114.5 the idea is repeated: the wise-poets describe in many different figures that which is One. Stanza 2 in this same hymn said explicitly that sages had traced the One Cause of everything abiding in distant and mysterious realms/rules (*vrata-*).

Hymn 8.54.2 states just as explicitly that the One became all and everything : *ékaü vā idám ví babhkūva sárvam*.

Then, in Book 3 of the Viśvāmitra clan, hymn 54.8 says *víśvam ékaü patyate* 'the One which is All governs all and everything', *éjad dhruvám* 'what moves and what is at rest', *cárat patatṛ́* 'what walks and what flies', *víṣunaü víjātśm* 'this manifested multiplicity'.

And the 22 stanzas of hymn 55 in the same Book 3 have as refrain *mahád devā́nām asuratvā́m ekam* single is the god-power of the gods and great. In other words the gods are gods in that they partake of goodhood, the great unitary force that makes them gods.

Enough has been said to establish that the One is the cause of the many.

7. That One does not really create. It does not do anything - except breathe of its own innate power, since there was no air, as 10.129.2c says: *ānīd avātáü svadháyā tád ékam*.

Since there was no air (and except for That One, there was absolutely nothing else, nothing at all), what was that "breathing"?

I take it that the outbreath, the exhalation, was the emergence of the creation with all its levels, worlds, creatures and phenomena, and the inbreath, the inhalation, was the withdrawal of all this. (Here too we have poetic suggestion, but I would be quite happy to consider any other reasonable suggestion.)

However, the creation emerges from 'that-which-becomes' *ābhú*, as it is termed in 10.129.3c. And this manifested *ajāyata* out of the power of transformation *tápasas* -or 'fervour/heat', as most academics wrongly translate. And I say 'wrongly' because this power-of-becoming was covered over by (and lying unmanifest within) *tuchyéna* 'vacuity/void'; and since nothing at all existed other than That One, there could not have existed heat of any kind that we know in our world. So I take *tápas* in the sense of *aiśvarya* (as in the *Dhātupāṭha*), the supreme power that can lay down laws and change them and their effects at will: hence transformation.

From That One, in That One, arose 'power-of-becoming' by means of *tápas* and *svadhā́* 'self-transformation, innate-power'. But still, all was enveloped by/in vacuity! Still nothing recognisably "existent" existed!

The idea is presented again in more familiar images elsewhere, as in 10.82.5-6. '[He, Viśvakarman, the All-maker] was the embryo first arising on the Waters (*ā́paḥ*) [of Infinity], where all the gods are assembled - the embryo planted on the navel of the Unborn, within which (*yasmin*)

stand (*tasthúḥ* literally 'have stood') all the worlds'.

In other hymns the All-maker is presented as something of an anthropomorphic god who creates like a smith or carpenter - or through simple viewing (see earlier section §4, end).

Upon (*adhi*) that evolvent force and all-through-it (*sam)* rolls/vibrates *(vṛt-*) desire/love/will *(kāma*). Until now we have the causal sphere, manifest and apprehensible, thinkable by mind.

This now becomes the mind. 10.129.4 tells us that this *kāma* is the first seed of mind *mánaso rétaḥ prathamám*.The seed grows and expands into the vast mental sphere. Hereafter (in stanza 5) appear various powers, energetic and passive, higher propulsive (*práyati-*) and lower self-moving (*svadhā*) mechanical forces. And these create the material world, we are left to understand, since the next two stanzas say that we do not really know how it all began. Who truly knows?...É

8. But all this process is discoverable within man. This is implied in the fourth stanza of this very same hymn:

sató bándhum ásati níravindan hṛdí pratīcyā kávayo manīcā́ (c,d).

'Having examined thoroughly with discernment wise-poets discovered within their heart the bond/connexion of truth/reality/existence in the untruth/illusion/non-existence.'

The mental power that examines, observes and understands (*manīṣā́*), the mind (*mánas*), the will (*kā́ma*) and the evolvent (*ābhú*) is, in fact, from the power/substance of the One Itself. This is clearly stated in a hymn in *Atharva Veda* 4.1.3:

pra yo jajñe vidvān asya bandhur viśvā devānām janimā vivakti/

brahma brahmaṇa ujjabhāra mahyan-nicair ucaiḥ svadhā abhi pra tasthau//

'He who, knowing, became manifest, the Connexion/kinsman of this [world], he declares all the generations of gods; **he carried along/ forth (uj-jabhāra) the sacred-power *brahma* from the midst of *brahma*, by innate power,** stood forth high and low.'

It is also stated in *AV* 11.8 where, in many stanzas (18-30), it is said that many qualities, gods, elements entered the human embodiment. So stanza 32 says "Knowing Man *puruṣa* therefore, one thinks 'This is *brahman*'; for all the deities are seated in him like cows in a pen": *tasmād vai vidvān puruṣam idaü brahmeti manyate; sarvā hyasmin devatā gavo*

goṣṭha ivāsate.

In the *AV* there is the Supreme Brahman (*brahma jyeṣṭham*: *AV* 10.7.20) and also the lower brahman, embodied in man, which is subject to time *kāla* (as in *AV* 19.53.9 *and in* 19.54.1). Such differentiations and identifications are not, admittedly, found in the *RV*. Both are mentioned in *AV* 10.7, the well-known hymn to Skambha (=Support). Here the *brahman*, sacred-power or Absolute, is identified with the Support and whoever know brahman in man know the Highmost *parameṣṭhin* (as will be explicitly repeated later in the Upanishads): see stanza 17a: *ye puruṣe brahma vidus te vidus parameṣṭhinam*.

In stanza 35 of this same hymn, Skambha, identified as the Supreme, established (*dadhāra*) the six extensive dimensions (*diśas...urvīḥ*). All of course translate *diśas* (plural) as "regions/quarters directions" and FE wonders (p96) at this finding that six is an unusual number (see section §6, above)! If we take *āśā*, *diś* (both fem) and *rajas* (neuter) to be directions, quarters, regions or spaces, the number six would seem very odd; so I insist that we have "dimensions". However, this same stanza says that the Supreme entered into all this creation - *idaü viśvaü bhuvanam āviveśa*. This entry was stated in stanzas 8-9 also. So it is not surprising that It is within man too.

This idea is, of course found in the *RV* also, in 1.164.21:

inó víśvasya bhúvanasya gopā́ sá mā dhī́raḥ pā́kam atrā́ viveśa.

'The mighty guardian of the whole world, he the wise one, entered here into me, the simpleton.'

Elsewhere in the *RV*, Agni, who encompasses all gods (5.3.1; 5.13.6) and knows all and everything (3.1.17; 6.15.13) and so appears as an apt emblematic manifestation of the Supreme, is the light and source of all inspiration placed in man's heart *hṛdaya ā́hita-* (6.9.6) and is perceived through mind *mánasā nicay-* (3.26.1; 4.1.20).

A.B. Keith pointed out that while the term *brahman* does mean prayer or spell or holly word or rite, in many passages it "must be taken rather as holy power" (1925: 446). And as both prayer and holy-power it must be taken in 6.75.9: *bráhma várma mamā́ntaram* 'the *bráhma*-power is my inmost armour'.

9. From the above brief survey (§§7-8) it appears that the system Vedānta was present at the time of the *RV* and the *AV*, even of the earliest

maṇḍalas. Obviously, the system did not en1joy the popularity of the orthodox hieratic religion with its polytheism, henotheism and sacrificial rites as practised in the wealthier sections of society, nor the lower magical, superstitious practices of the poorer common folk. But it was there and some rishis certainly followed its basic tenets.

The One is the First Cause and Creative Principle of the multiplicity.

The manifest world is created by its Will from its own substance through a Creator-god who is its expression.

The One is in man also as his essential, real Self and man must come to realise this.

In brahman is both *sat* 'existence/reality/truth' and *asat* non-existence/ unreality/untruth' as is declared in *AV* 10.7.10,15. Then, in *AV* 10.8.43 are explicitly mentioned the 3 guṇas.

These very same tenets will be re-examined and re-stated in greater detail in the principal Upanishads after the long ascendancy of the ritualism found in the Brāhmaṇa texts. But this teaching also was eventually forgotten or pushed aside and distorted into various other systems like Sāṅkhya. And later Adi Shankara came along (some say in the 5th cent BCE, others after 500 CE) and restated the Advaita Vedānta as we have it today. I need not state here the mahāvākyas of the Upanishads and the Shaṅkarācārya tradition like *ayam ātmā brahma* 'this personal self is the Absolute', *ahaü brahma-asmi* 'I am the Absolute' etc.

But the basic tenets of this philosophical system were there at the very beginning.

Bibliography

Edgerton F. 1965 *The Beginnings of Indian Philosophy* Cambridge Mass, Harvard.

Elizarenkova T. 1995 *Language & Style of the Vedic Poets* (transl by Wendy Doniger O' Flaherty) NY, SUNY Press.

Kazanas N. 2015 *Vedic & Indoeuropean Studies*, N. Delhi Aditya Prakashan.

Keith A.B. 1925 *The Religion & Philosophy of the Veda & Upanishads* (1989) Delhi, M. Banarsidass.

O'Flaherty W.D. 1981 *The Rig Veda* London, NY, Penguins.

Watkins C. 2001 *How to kill a Dragon...É* (1995) Oxford, OUP.

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (93-103) January-June 2019 ISSN 2277-4351

Yoga: A treatment technique for Anxiety

-Farha Naaz & Megha Taragi

Ph.D Scholar, Department of Psychology,
Gurukul Kangri Vishwavidyalaya Haridwar, U.K.

Abstract

In the past few decades our society had seen tremendous development and technological innovation it had made human life easier and comfortable but it had also burden us with tension, stress and anxiety. Anxiety is an emotion characterized by an unpleasant state of inner turmoil. There are various treatments in pharmacotherapy and in psychotherapies for anxiety but yoga has also emerged in recent decades as a treatment technique for anxiety. Asana like Child's Pose (Balasan), Tree Pose (Vrikashan), Warrior III (Virabhadrasana), Headstand (Sirsasana), Legs up the wall (Viparitakarani).

Key words: Anxiety, Stress, Yoga, Asana,

Introduction

Human society have seen tremendous growth, modernization as technological advancement in recent decades, with digitalization and social media the seems to be in our hand undoubtedly our life have become much easier in this era but the advancement had also created a kind of mental as physical imbalance in us, to match our steps with the world to complete and remain updated had become so important for us that it had created a constant anxiety and stress specially among youth, and this anxiety can further turn into severe mental illness.

Anxiety

Anxiety is an emotion characterized by an unpleasant state of inner turmoil, often accompanied by nervous behaviour such as pacing back and forth, *somatic complaints,* and rumination (Seligman Walker & Rosenhan,2000). It is the subjectively unpleasant feelings of dread over

anticipated events, such as the feeling of imminent death.(Davison,2008). Anxiety is not the same as fear which is a response to a real or perceived immediate threat, whereas anxiety involves the expectation of future threat (APA, 2013). Anxiety is a feeling of uneasiness and worry, usually generalized and unfocused as an overreaction to a situation that is only subjectively seen as menacing (Bouras & Holt, 2007) It is often accompanied by muscular tension, restlessness, fatigue and problems in concentration. Anxiety can be appropriate, but when experienced regularly the individual may suffer from an anxiety disorder (APA, 2013).

Symptoms

Anxiety can be experienced with long, drawn out daily symptoms that reduce quality of life, known as chronic (or generalized) anxiety, or it can be experienced in short spurts with sporadic, stressful panic attack known as acute anxiety (Rnn & Brawman Mintzer, 2004). Symptoms of anxiety can range in number, intensity, and frequency, depending on the person. While almost everyone has experienced anxiety at some point in their lives, most do not develop long-term problems with anxiety.

WHO (2016). Anxiety may cause psychiatric and physiological symptoms.

The risk of anxiety leading to depression could possibly even lead to an individual harming themselves, which is why there are many 24-hour suicide prevention hotlines.

The behavioural effects of anxiety may include withdrawal from situations which have provoked anxiety or negative feelings in the past. Other effects may include changes in sleeping patterns, changes in habits, increase or decrease in food intake, and increased motor tension (such as foot tapping). (Barker, 2003).

Smith & Melinda (2008). The emotional effects of anxiety may include "feelings of apprehension or dread, trouble concentrating, feeling tense or jumpy, anticipating the worst, irritability, restlessness, watching (and waiting) for signs (and occurrences) of danger, and, feeling like your mind’s gone blank" as well as "nightmares/bad dreams, obsessions about sensations, déjà vu, a trapped-in-your-mind feeling, and feeling like everything is scary."

The cognitive effects of anxiety may include thoughts about suspected dangers, such as fear of dying. "You may fear that the chest

pains are a deadly heart attack or that the shooting pains in your head are the result of a tumour or an aneurysm. You feel an intense fear when you think of dying, or you may think of it more often than normal, or can't get it out of your mind."

WHO, (2009). The physiological symptoms of anxiety may include -Neurological as headache, paraesthesia's, vertigo, orpresyncope. Digestive as abdominal pain, nausea, diarrhea, indigestion, dry mouth or bolus. Respiratory, as shortness of breath or sighing breathing. Cardiac, as palpitations, tachycardia or chest pain. Muscular, as fatigue, tremors, or tetany. Cutaneous, as perspiration, or itchy skin. Uro-genital, as frequent urination, urinary urgency, dyspareunia, or impotence.

Therapy

Pharmacotherapy is the first line treatment for anxiety disorders (Anxiety and Depression Association of America, 2010-2016). Pharmaceuticals used to treat anxiety disorders include benzodiazepines, beta-blockers, monoamine oxidase inhibitors, and antidepressants (NIMH, 2010). The safety of these drugs has improved over the past 30 years but treatment efficacy and duration have not (Farach et al., 2012). Psychotherapy is another treatment option that includes cognitive-behavioral therapy, cognitive therapy, and applied relaxation (Powers, Becker, Gorman, Kissen, & Smits, 2015). The treatment options listed here require the assistance of a mental health or medical provider or other licensed professional.

CBT-Cognitive-behavioural therapy focuses on identifying, understanding, and changing thinking and behaviour patterns related to anxiety in regular meetings with a licensed, CBT-trained therapist. Therapists who practice CBT may use interpersonal therapy (IPT) to help their clients develop coping skills, encourage them to record their thoughts throughout the week as they occur, and attempt exposure therapy if appropriate for their disorder (read more below).

DBT-Dialectical behavioural therapy is a specific type of CBT. The term "dialectics" refers to a philosophical practice of examining multiple or often contradictory ideas, combining acceptance and change simultaneously. For example, a patient can accept where she is in her life and also feel motivated to improve it. DBT places an emphasis on mindfulness, enabling people to recognize and attempt to understand thoughts as they occur.

Exposure Therapy : As this term suggests, exposure therapy gradually exposes an individual to the feared situation in a safe, controlled environment. Eliminating the actual fear is the ultimate goal. Practitioners begin by having the patient repeatedly imagine the feared situation or object and potential responses to it. Often used in treating OCD, phobias, and PTSD, this therapy may incorporate virtual reality or computer simulations to create a more realistic yet completely safe method of exposure.

Group Therapy: The phrase "group therapy" describes a few therapeutic environments with participants beyond a single patient and provider. In addition to normalizing an individual's experience by relating to others, group therapy may offer an alternative for those who are unable to afford one-on-one therapy. Beside these psychotherapies for curing anxiety disorder there is a renowned ancient technique called Yoga.

Yoga

In recent years, extensive research has been done to substantiate yoga as a credible and effective source of prevention and treatment for depression and anxiety. Recent research had demonstrated yoga to be a powerful means to reduce depression and anxiety (Weintraub, 2004).

According to Kath Upanishad "When the five senses, along with the mind, remain still and the intellect is not active, that is known as the highest state. They consider yoga to be firm restraint of the senses. Then one becomes un-distracted for yoga is the arising and the passing away" (6.10-11)

According to Bhagavad Gita "Yoga is said to be equanimity" (2.48); "Yoga is skill in action" (2.50); "Know that which is called yoga to be separation from contact with suffering" (6.23).

Yoga is a 3,000 year-old practice that has evolved into a holistic approach to general wellness and healing. The word "yoga" comes from the Sanskrit word "yuj", which means to "yoke" or join in union (Woodyard, 2011). Modern yoga in the Western world typically consists of *asana* (movement), *pranayama* (controlled breathing), and *dhyana* (meditation) (Horovitz & Elgelid, 2015). When this combined yoga practices are used together they are aimed at attaining "enlightenment" or "self-awareness". The goal is to join together the body, mind, and spirit for overall well-being. Although many core pieces are consistent, there are also many types of yoga (Hatha, Bikrim, Ashtanga, Iyengar, etc) that

build on the core principles and have slightly different variations of practice (Sadji & Mills, 2013). As an increasing number of individuals have discovered the therapeutic benefits of these practices, the field of Yoga Therapy has recently emerged. This field consists of health professionals who are also yoga instructors. They have been working to change the way yoga is practiced as therapy through the creation of the theory and practice of "Yoga Therapy" (Horovitz & Elgelid, 2015).

There are several claims about the benefit of yoga on mental health, including decreased stress and tension, increased memory, concentration and decreased effects from traumatic experiences (Novotney, 2009; Harvard Mental Health Letter, 2009). These claims are often based on personal experiences and personal testimonials. People who practice yoga reported feeling better; there are even some claims that symptoms caused by diseases such as cancer, depression and osteoarthritis are reduced (Chang, Sklar, & Groessl, 2016; Cramer, Steel, Lauche, Dobos, & Zhang, 2016; Sharma, Lingam, & Nahar, 2016; Desveaux, Lee, Goldstein, & Brooks, 2016; Schumann et al., 2016). The purported association between yoga and increased health and wellness has become generally accepted in the American consciousness (NCCIH, 2013). According to Dr. Sanjiv Chopra and Dr. Alan Lotvin, "There are centuries of anecdotal evidence that yoga is beneficial for the mind and spirit even if the actual medical benefits haven't been proven" (Chopra & Lotvin, 2012, p. 298).

Yoga's greatest aim is to create compassion within and a deep sense of unity and oneness with all forms of life (Shroff,2011). Yoga is an individual activity that has social implications. Those who regularly participate in yoga typically interact with the world in calmer and more reasonable ways. More positive social interactions and relationships are one of the ripple effects of individual yoga practice. Accessible or complementary yoga classes offer low income people the opportunity to experience the benefits of inner peace and healthier body. When practices such as yoga are accessible to all, larger effects are possible. Without overstating the impacts, potential consequences of large scale population mental well-being initiatives such as this are less violence in society, less addiction, greater ability to be authentic with one and others (Shroff, 2017).

Vennine (2017). Some specific Yoga Asana which can help in reduce anxiety are :

Child's Pose (Balasana)

Child's Pose helps to release tension in the back, neck and shoulders, which are areas where most people hold a lot of their stress. This pose also helps to promote relaxation by encouraging steady conscious breathing, which is particularly great for anxiety sufferers due to a calming of the nervous system.

Tree Pose (Vrikasana)

Tree Pose is fundamental in easing anxiety. By implementing basic standing balances, you promote concentration, focus and awareness, with the intention of taking your mind away from anxiety and placing your attention on your physical self.

Warrior (Virabhadrasana III)

If you are sufficient with standing leg balances and would like a pose that strengthens, lengthens and challenges you, Warrior III is the way to go. This pose enhances core strength, improves coordination, balance and posture. It also stimulates your abdominal region, which helps to improve digestion. Proper digestion and overall gut health is imperative in the fight against anxiety, as recent studies have discovered a link between the two.

Headstand (Sirsasana)

It reverses the blood flow in your body, causing you to focus more attention on your breath, rather than your anxiety or discomfort. By focusing your awareness on your body's place in space, you begin to evoke calmness and contentment.

Legs Up The Wall Pose (Viparita Karani)

Legs up the Wall is great for relieving lower back pain and easing anxiety symptoms, in addition to relieving arthritis discomfort, menstrual cramping, reducing insomnia and lowering high blood pressure.

The mechanisms that make yoga a seemingly effective health promotion, disease prevention, treatment, rehabilitation, and palliation intervention are not entirely understood. Various researchers hypothesize

that yoga works through positively affecting the nervous system, the cardiovascular system and gene expression. Stimulation of the vagal nerve results in increased parasympathetic activity of the autonomic nervous system and also increases GABA (a neurotransmitter) activity in the brain (Streeter, Gerbarg, Saper, Ciraulo & Brown ,2012). Similar to other forms of physical exercise, breathing and body movement has a positive impact on cardiovascular health. Studies comparing gene expression in long term practitioners of yoga with controls suggest that yoga positively affects gene expression profiles in immune cells (Saatcioglu, 2013). From a yogic perspective, the breath is a bridge between mind and body. Slow diaphragmatic breathing is common to almost all forms of yoga. The key to quieting the mind is slowing and deepening the breath. Practicing yoga helps to regain mental stability, calmness, and tranquillity, primarily because of this kind of breathing. Practitioners are able to connect internally through this stillness and silence. Virtually all yogic practices, including asana (postures), pranyam (life force practices), dhyana (meditation), encourage quietness andlistening within. Being kinder and gentler to oneself and others is part of the practice on and off the mat. A yogic saying states that through a flexible body we gain a flexible mind. This helps people become more patient, forgiving, less prone to anger and sadness (Parks & Steelman, 2008).

If Yoga Asans are practised regularly individual he will defiantly feel less anxious and more relived in his day to day life. Malathi and Damodaran(1999). Found a significant reduction in anxiety after treatment of yoga. Yoga is also a tool that can be learned and clients can use on their own outside of therapy to cope with stress and anxiety (Novotney, 2009). A review done on yoga's effectiveness of depression and anxiety with older adults (60 years and above) determined yoga to be an intervention that may counteract negative effects of aging; improve physical functioning; stimulate the mind; increase hope; and reduce the risk of anxiety and depression (Klainin-Yobas et al., 2015). One study of Siddha Samadhi yoga that encouraged daily practice found that there was a significant reduction in scores on depression and anxiety scales, as well as a significant increase in individuals' overall wellbeing (Kozasa et al., 2008). Furthermore, with a regular practice of yoga,individuals can create powerful changes within themselves that aid them in leading rich and fulfilling lives.

Reference :

American Psychiatric Association (2013). Diagnostic and Statistical Manual of Mental Disorders (Fifth ed.). Arlington, VA: American Psychiatric Publishing. p. 189. ISBN 978-0-89042-555-8.

Anxiety and Depression Association of America. (2010-2016). Depression: Understand the facts. Retrieved from https://www.adaa.org/understanding-anxiety/depression.

Barker P (2003). Psychiatric and Mental Health Nursing: The Craft of Caring. London: Edward Arnold. ISBN 978-0-340-81026-2.

Bouras N, Holt G (2007). Psychiatric and Behavioural Disorders in Intellectual and Developmental Disabilities (2nd ed.). Cambridge University Press.

Chang, D. G., Holt, J. A., Sklar, M., & Groessl, E. J. (2016). Yoga as a treatment for chronic lowback pain: A systematic review of the literature. *Journal of Orthopedic Rheumatology, 3*(1), 1-8.

Chopra, S., & Lotvin, A. (2011). *Live better, live longer.* New York, NY: St. Martin's Press.

Cramer, H., Ward, L., Steel, A., Lauche, R., Dobos, G., & Zhang, Y (2016). Prevalence, patterns,and predictors of yoga use: Results of a U.S. nationally representative survey. *American Journal of Preventative Medicine, 50* (2), 230-235.

https://doi.org/10.1016/j.amepre.2015.07.037

Davison G.C. (2008). Abnormal Psychology. Toronto : Veronica Visentin. p. 154. ISBN 978-0-470-84072-6.

Desveaux, L., Lee, A., Goldstein, R., & Brooks, D. (2015). Yoga in the management of chronic disease: A systematic review and meta-analysis. *Medical Care, 53*(7), 653-661.

https://doi.org/10.1097/MLR.0000000000000372

"Depression Hotline Call Our Free, 24 Hour Depression Helpline". Psych Guides.com. Retrieved 2018.

Farach, F. J., Pruitt, L. D., Jun, J. J., Jerud, A. B., Zoellner, L. A., & Roy-Byrne, P. P. (2012).

Pharmacological treatment of anxiety disorders : Current treatments and future directions.

Journal of Anxiety Disorders, *26*(8), 833-843.

https://doi.org/10.1016/j.janxdis.2012.07.009

Farah M S &Asgarpour M. (2017). Yoga and Mental Health: A Review, *Journal of Physiotherapy & Physical Rehabilitation.2,(*1) DOI: 10.4172/2573-0312.1000132

Harvard Mental Health Letter.(2009).Yoga for anxiety and depression. Harvard Health Publications, Harvard Medical School. Retrieved from

http://www.health.harvard.edu/mind-and-mood/yoga-for-anxiety-and-depression

Horovitz, E., &Elgelid, S. (2015). *Yoga therapy: Theory and practice*. New York, NY : Routledge.

https://www.anxiety.org/treatments anxiety treatment: medication, therapies ,self -help- anxiety. org

Kozasa, E. H., Santos, R. F., Rueda, A. D., Benedito-Silva, A. A., De Ornellas, F. L., & Leite, J.R. (2008). Evaluation of siddha samadhi yoga for anxiety and depression symptoms: A preliminary study. *Psychological Reports, 103*(1), 271-274. doi:10.2466/pr0.103.1.271-274.

Malathi A, Damodaran A.(1999). Stress due to exams in medical students: role of yoga.*Indian J PhysiolPharmacol*43:218û24.

National Institute of Mental Health.(2010). *Anxiety disorders*. Retrieved from

http://www.nimh.nih.gov/health/publications/anxiety-disorders/complete-index.shtml

National Center for Complementary and Integrative Health. (2013). Yoga: In depth. Retrieved from https://nccih.nih.gov/health/yoga/introduction.htm

Novotney, Amy. (2009). Yoga as a practice tool.*November 2009 Monitor on Psychology*,

40(10), pp 38.American Psychological Association. Retrieved September 21, 2015, from http://www.apa.org/monitor/2009/11/yoga.aspx.

Parks KM, Steelman LA (2008) Organizational wellness programs: A meta-analysis. J Occup Health Psychol 13: 58-68.

Powers, M., Becker, E., Gorman, J., Kissen, D., & Smits, J. (2015). Clinical practice review for GAD. Anxiety and Depression Association of America. Retrieved from

https://www.adaa.org/resources-professionals/practice-guidelines-gad

Rynn MA, Brawman-Mintzer O (October 2004). "Generalized anxiety disorder: acute and chronic treatment". CNS Spectrums. **9** (10): 716-23. PMID 15448583.

Saatcioglu F (2013) Regulation of gene expression by yoga, meditation and related practices: A review of recent studies. Asian J Psychiatr 6:74-77.

Sadji, J., & Mills, Paul J., (2013). Effects of yoga interventions on fatigue in cancer patient and survivors: A systematic review of randomized controlled trials. *EXPLORE: The Journal of Science and Healing,* 9(4), pp. 232-243.

Seligmen M.E, Walker .E.F, Rosenhan D.L. (2000). Abnormal psychology (4th ed.). New York: W.W. Norton & Company.

Schumann, D., Anheyer, D., Lauche, R., Dobos, G., Langhorst, J., & Cramer, H. (2016). Effect of yoga in the therapy of irritable bowel syndrome: A systematic review. *Clinical*

Gastroenterology Hepatology, 14 (12), 1720-1731.

https://doi.org/10.1016/j.cgh.2016.04.026

Sharma, M., Lingam, V. C., & Nahar, V. K. (2016). A systematic review of yoga interventions as integrative treatment in breast cancer. *Journal of Cancer Research and Clinical Oncology*, *142*(12), 2523-2540.

Shroff F (2011) Conceptualizing holism in international interdisciplinary critical perspective : Toward a framework for understanding holistic health. Soc Theory Health 9: 244-255.

Smith, Melinda (2008). Anxiety attacks and disorders : Guide to the signs, symptoms, and treatment options. Retrieved March 3, 2009, from Helpguide Web site: *"HelpGuide.org"*.

Smith, Melinda (1987-2008). Anxiety Symptoms, Anxiety Attack Symptoms (Panic Attack Symptoms), Symptoms of Anxiety. Retrieved March 3, 2009, from Anxiety Centre Website: "Anxiety Symptoms and Signs-over 100 listed. Archived from the original on March 7, 2009. Retrieved March 4, 2009.

Smith, Melinda (1987-2008). Anxiety symptoms - Fear of dying. Retrieved March 3, 2009, from Anxiety Centre Website: "Fear of dying

anxiety symptom". Archived from the original on March 5, 2009. Retrieved March 4, 2009.

Streeter CC, Gerbarg PL, Saper RB, Ciraulo DA, Brown RP (2012) Effects of yoga on the autonomic nervous system, gamma-aminobutyric-acid, and allostasis in epilepsy, depression, and post-traumatic stress disorder. Med Hypotheses 78 : 571-579.

Testa A, Giannuzzi R, Sollazzo F, Petrongolo L, Bernardini L,&Daini (2013). "Psychiatric emergencies (part I): psychiatric disorders causing organic symptoms". *European Review for Medical and Pharmacological Sciences. 17 Suppl 1: 55-64.* PMID 23436668.

Vennine.Q(2017). 5 Yoga poses to help alleviate Anxiety. Retrieved from-http://www.mindbodygreen.com/0-16345/5-yoga-poses-to-help-alleviate-anxitey.html

Woodyard, Catherine. (2011). Exploring the therapeutic effects of yoga and its ability to increase quality of life. *International Journal of Yoga,* 4(2), pp 49-54.

World Health Organization (2009). Pharmacological Treatment of Mental Disorders in Primary Health Care (PDF). Geneva. ISBN 978-92-4-154769-7.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (104-124) January-June 2019 ISSN 2277-4351

वेदों में पुनरुक्ति दोष विषयक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों का मत

प्रेम प्रकाश लाल, शोधार्थी (वेद विभाग),
प्रो. दिनेश चन्द्र शास्त्री (वेद विभाग)
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वैदिक साहित्य पर अनेक पाश्चात्य विद्वानों की कृतियाँ उपलब्ध हैं जिनमें से कुछ के नाम व उनकी कृतियाँ निम्न हैं-

1. जे. गोण्डा- स्टाइलिस्टिक रिपीटीसन इन द वेद
2. एम.ब्लूमफील्ड- रिलीजन आफ द वेद, द अथर्ववेद, ऋग्वेद रिपीटीसन्स।
3. ए. वर्गेनी- हिम्स आफ द ऋग्वेद।
4. हिलेब्रान्ट- वैदिक मिथ, रिचुअल लिटरेचर
5. ओल्डेनबर्ग- ऋग्वेद नोट्स।
6. पिशेल और गेल्डनर- वेद स्टडीज।
7. मैक्समूलर- हिस्ट्री आफ़ एनसेंट संस्कृत लिटरेचर, सेक्रेड बुक आफ द ईस्ट।
8. एरनाल्ड- वैदिक मीटर

इनके अतिरिक्त अनेक विद्वान हुए हैं, जैसे- कोल ब्रुक, प्रो. बर्नूफ, एडोल्फ रोठ ह्विटनी, एन.एन.ला, फ्रीडिश रोजेन, थिओडोर आउफ्रेख्त, एच.एच. विल्सन, एच० ग्रासमैन, ए. लुडविग, प्रो. ग्रिफिथ, एस. ए. लांग्ल्वा, गेल्डनर और केगी, मैक्डानल, थामस, पीटर्सन, प्रो. हाउग, प्रो. लिन्डनर, डा. कीथ, स्टेन्त्सलर, वेवर, डब्ल्यू. कैलेंड, जे. इग्लिग, एव.वी. श्नेडर, विन्टरनित्स, गार्वे, क्नाउएर, स्टेवेन्सन, वेन्फे, ए.सी.वर्नेल, एच. एर्टल, प्रो. स्टेनकोनो, डी. गास्ट्रा, लानमैन, जे.वाकरनागेल, लूई रेनू, एलिजारेन कोवा, शेपटेलोविल्स, एच. त्सिम्मेर, ग्रिसवोल्ड, फार्कुहर, क्लेटन, याकोवी, गोल्डस्टूकर आदि।

वेदों में पुनरुक्तियों के सम्बन्ध में मुख्य रूप से एम.ब्लूमफील्ड और जे. गोण्डा ने विवेचना की है। जे.गोण्डा ने तो पुनरुक्तियों को शैलीगत बताया है, परन्तु एम. ब्लूमफील्ड ने इस विषय में बहुत ही विस्तार से विवेचना करते हुए अनेकानेक आक्षेप आरोपित किये हैं। ब्लूमफील्ड कृत विवेचना इतनी विस्तृत है कि अन्य सब पाश्चात्य विद्वानों द्वारा फुटकर आक्षेप ब्लूमफील्ड कृत ग्रन्थ "Rig- Veda Repetiations" के अन्तर्गत समाहित हो गए हैं। अत: अन्य विद्वानों के विषय में चर्चा न करके ब्लूमफील्ड कृत इस ग्रन्थ में आक्षेपित बिन्दुओं पर ही चर्चा करना पर्याप्त होगा। इसके बाद जे.गोण्डा कृत "Stylistic Repetitions in the Veda" के बिन्दुओं पर विचार करेंगे।

एम.ब्लूमफील्ड कृत- Rig-Veda Repititions ब्लूमफील्ड ने अपने इस ग्रन्थ को तीन भागों में विभक्त किया है, जिसका विवरण संक्षेप में निम्न प्रकार है-

भाग 1- यह ग्रन्थ का मुख्य भाग है, जिसमें पुनरुक्तियों को ऋग्वेद के क्रमानुसार, कात्यायन सर्वानुक्रमणी में अंकित ऋषि और देवता के अनुसार लिया गया है। प्रत्येक पुनरुक्तियों की व्याख्या, उनका गुणदोष विवेचना तथा सापेक्ष कालक्रम भी ब्लूमफील्ड ने दर्शाया है।

भाग- 2 इस भाग में व्याख्या और विश्लेषण है, जो पाँच भागों में बंटा है- चैप्टर-1 इस अध्याय में पुनरुक्तियों की 10 श्रेणियाँ बनायी गयी है। चैप्टर-2 इस अध्याय में मन्त्रांशों में शब्दों/ अक्षरों को जोड़कर या कम करके छन्द परिवर्तन को बताया है।

चैप्टर-3 पुनरुक्तपादों में शाब्दिक और व्याकरणीय परिवर्तन को दिखाया गया है।

चैप्टर-4 इसमें विषय/ भाव की पुनरुक्तियों को दिखाया है।

चैप्टर-5 कालक्रम के सापेक्ष पुनरुक्तियों को बताया गया है।

भाग-3 इस भाग में तीन परिशिष्ट निम्न प्रकार हैं-

परिशिष्ट-1 मूर्छनाओ (आरोह-अवरोह) की सूची।

परिशिष्ट-2 एक ही सूक्त में पुनरुक्त मन्त्रांशों की सूची।

परिशिष्ट-3 टेक (Refrain) पंक्तियों की सूची।

ब्लूमफील्ड ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में ही निम्न उदाहरण देने हुए बताया है कि कम से कम 25 अष्टाक्षरी पादों के प्रारम्भ में चार अक्षरों को संयुक्त करके द्वादश अक्षरीय पाद बनाकर पुनरुक्ति की गयी है:-

ऋ. 8.40.7 सासह्याम पृतन्यतो।

ऋ. 1.132.1 इन्द्रत्वोताः सासह्याम पृतन्यतो।

निम्न उदाहरण देते हुए ब्लूमफील्ड ने कहा है कि अनेकों बार पादों के प्रारम्भ में ही एक शब्द के स्थान पर अन्य शब्द रख कर पुनरुक्ति की गयी है-

ऋ. 1.102.8 अशत्रुरिन्द्र जनुषा सनादसि।

ऋ. 8.21.13 अनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि।

ब्लूमफील्ड ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में कहा है कि ऋग्वेद के कवियों ने पादों/ अर्धर्चो/ मन्त्रों को अनेक स्थलों पर अन्य कवियों के कृतियों का अनुकरण किया है और यह अनुकरण जानबूझ कर पूर्ण चेतना में किया गया है, जिससे वेद के विभिन्न भागों की रचना कालक्रम के सापेक्ष ज्ञात करना एक प्रश्न है।

ब्लूमफील्ड के उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ-3 पर अंकित आक्षेपों का अंश निम्न प्रकार है-

Repetitions range from hymns (which are made intensionelly in the image of one another as in case some Valkhilya hymns) to mere collocations of two or more consecutive words. Between these two extremes- lie repetitions of some consecutive group of stangas; repetition of single stangas, repetition of three verses or pādas of a stanga; repetition of distiches; and repetition of Verses or pādas. The imitative moment in mere groups of words is, as a rule, faint, accidental and more or less unconscious, because such collocation tend to as some the nature of set phrases. it will be seen that repetition of two or more consecutive words is an established feature of Rigvedic Compositaons in general.

ब्लूमफील्ड का कथन है कि मन्त्रों के समूह मन्त्रों के समह, मन्त्रों, मन्त्रांशों, अर्धर्चो में कुल कम से कम 2400 पाद लगभग 21/2 बार अर्थात् 6000 पाद (लगभग) पुनरुक्त हुए हैं। इस संख्या में उसी सूक्त में पुनरुक्त पाद सम्मिलित नहीं है। इनमें 150 टेक (Refrains) पाद लगभग 1000 वार पुनक्त हैं। इस प्रकार कुल लगभग 8000 पाद पुनरुक्त हैं, जो कि ऋग्वेद का 1/5 वाँ भाग है।

ब्लूमफील्ड के कथनानुसार आंशिक पुनरुक्तियाँ निम्न प्रकार की गयी हैं-

1. एक ही मन्त्र/ मन्त्रांश ठीक उसी प्रकार दो या अधिक स्थानों पर।
2. मन्त्र/ मन्त्रांश को दूसरे स्थनों पर कुछ परिवर्तन करके।
3. मन्त्र/ मन्त्रांश को दूसरे स्थलों पर अन्य दूसरे देवता हेतु।

4. मन्त्र/ मन्त्रांश को अन्य स्थलों पर कुछ परिवर्तन से छन्द परिवर्तन कर।

5. मन्त्र/ मन्त्रांश में कुछ शब्दों को जोड़/ घटाकर त्रिष्टुप् से जगती अथवा जगती से त्रिष्टुप् छन्दों में परिवर्तन करके।

6. मन्त्र/ मन्त्रांश को अन्य प्रसंग में प्रयुक्त करके।

इस सम्बन्ध में ब्लूमफील्ड ने अपने भाव प्रकट किए हैं, उसकी कुछ पंक्तियाँ निम्न प्रकार हैं-

The poets rejoice in the at most freedom in this pespect. They curtail and extend, vary and adapt previously existent verse units to suit their needs and fancies. All these Variations bring with them the opportunity for critical historical study to the Rg-ved text and their interrelatins in the redaction. Especially the question of the relative date of the repeated materials comes to the force constantly when the same metreal unit is found in two or more different forms or different connexion.

विचार शृंखला या घटनाक्रम का रूप- ब्लूमफील्ड का कथन है कि घटना क्रम या विचार शृंखला के प्रस्तुतिकरण में बहुत अधिक पुनरुक्तियाँ की गयी हैं और यह वैदिक कवियों के परम्परा के रूप में पायी जाती है। सूक्त के किसी मन्त्र का अन्तिम पाद अगले मन्त्र के प्रथम पाद में प्रयुक्त किया गया है। इसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं, जैसे एक उदाहरण निम्न है।

तं मा सं सृज वर्चसा। (ऋ. 1.23.23)

सं माग्ने वर्चसा सृज। (ऋ. 1.23.24)

कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिनमें पदों (शब्दों) के क्रम परिवर्तित है-

जैसे-

समग्निरिध्यते वृषा। (ऋ. 3.27.13)

वृषो अग्निः सामेध्यते। (ऋ. 3.27.4)

इसके अतिरिक्त भी ब्लूमफील्ड के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किया है।

प्रश्नोत्तर सम्बन्धी ऋचाओं में पुनरुक्तियाँ- इसके उदाहरण निम्न हैं-

कथं रसाया अतरः पयांसि। (ऋ. 10.108.1)

तथा रसाया अतरं पयांसि। (ऋ. 10.108.2)

इसके अतिरिक्त ब्लूमफील्ड ने ऋ. 6.27.1- 6.27.2 और ऋ. 5.44.14- 5. 44.15 को उद्धृत करके हुए कहा है कि पुनरुक्ति की यह शैली लोकगीत (ballad)

के अनुसार है।

किमस्य मदे किम्वस्य पीताबिन्द्रः किमस्य सख्ये चकार।
रणा वा ये निषदिकिं ते अस्य पुरा विविद्रे किमु नूतनासः॥

(ऋ. 6.27.1)

सदस्य मदे सद्वस्य पीताविन्द्रः सदस्य सख्ये चकार।
रणा वा ये निषदि सत्ते अस्य पुरा विविद्रे सदु नूतनासः॥

(ऋ. 6.27.2)

ब्लूमफील्ड का कथन है कि वैदिक साहित्य में बहुतायत अन्त में निम्न पदों/ पादों से पुनरुक्ति की गयी है–

भूतम् च, भव्यम् च, प्रदीवो दिशश्च, इन्द्रश्च अग्निश्च तन्वा तना च।

ब्लूमफील्ड ने कहा है कि मन्त्रों/ मन्त्रांशों में एकरूपता लाने के लिए निम्न मन्त्रांशों की पुनरुक्ति की गयी है–

एको विश्वस्य भुवनस्य राजा। (ऋ. 3.36.2 और ऋ. 6.36.4)

तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा। (ऋ. 5.85.3)

सोमो विश्वस्य भुवनस्य राजा। (ऋ. 9.97.56)

अस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा। (ऋ. 10.168.2)

इसी प्रकार ऋग्वेद में **"वरुणो मित्रो अर्यमा"** की 11 बार **"मित्रस्य वरुणस्य धाम"** की 4 बार, **"विश्वानि वार्या"** की 8 बार पुनरुक्ति हुयी है, इसके अतिरिक्त निम्न पादों की पुनरुक्ति उनके सम्मुख अंकित मन्त्रों में की गयी है–

ऋ. 5.63.3, 5.63.7, 10.177.1, अथर्ववेद 6.72.1– असुरस्य मायया।

ऋ. 2.39.3, 10.10.7–8, 10.89.2, 10.117.5– रथ्येव चक्रा।

ऋ. 1.73.8, 1.136.7– मघवानो वयं च।

ऋ. 1.29.5, 10.85.30, 10.135.2, अर्थव. 7.56.6 पापयामुया।

ब्लूमफील्ड ने कुछ निकटवर्ती सूक्तों का सन्दर्भ देते हुए बताया है कि उन सूक्तों पदों/ पादों में एकरूपता/ समान्तरता पायी जाती है, जैसे–

ऋ. 9.31.1, 9.32.1 और 9.33.1 **'प्र सोमासः'** से प्रारम्भ होते हैं

अभि गावो अनूषत। (ऋ. 9.32.5)

अभि ब्रह्मीरनूषत। (ऋ. 9.33.5)

उपरोक्त दोनों मन्त्रांशों में सादृश्यता है, कुछ अन्य उदाहरण निम्न हैं-

प्रास्य धारा अक्षरन्। (ऋ. 9.29.1)

प्र धारा अस्य शुष्मिणो वृथा पवित्रे अक्षरन्। (ऋ. 9.30.1)

आशुं दध्रिकां तमु नु ष्टवाय दिवस्पृथिव्या उत चर्किराम।
उच्छन्तीर्मामुषसः सूदयन्त्वति विश्वानि दुरितानि पर्षन्।।

(ऋ. 4.39.1)

दधिक्रावण इदु नु चर्किराम विश्वा इन्मामुषसः सूदयन्तु।

(ऋ. 4.40.1)

ब्लूमफील्ड का कथन है कि कुछ मन्त्रों के जोड़े ऐसे हैं, जो विभिन्न स्थलों पर बिखरे हुए, परन्तु पुनरुक्त हैं। मूल मन्त्र पुनरुक्त नहीं है परन्तु बाद के कवियों ने उनको पुनरुक्त किया है, जब कि पुनरुक्त मन्त्रों के भाव भी मूलमन्त्रों जैसे ही हैं इसका एक उदाहरण निम्न है-

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरं च।।

(ऋ. 1.24.1)

कथा देवानां कतमस्य यामनि सुमन्तु नाम शृण्वतां मनामहे।
मो मृळाति कतमो नो मयस्करत्कतम ऊतीअभ्या वर्तति।।

(ऋ. 10.64.1)

इस प्रकार के अन्य उदाहरणों के सन्दर्भ निम्न हैं-

ऋ. 1.114.9: 10.127.8; 1.64.4: 5.54.11; 3.41.7: 7.31.4, 1.114.2: 2. 33.13; 3.62.10: 5.82.1; 1.143.8: 6.8.7, 4.7.8: 4.8.4; 2.11.4, 5: 10.148.2; 7.11.2: 10.70.3 2.18.7: 7.29.2; 8.100.2: 10.83.7; 3.19.2: 10.89.7; 3.17.2: 4.6.3 8.45.4, 5: 8.77.12।

ब्लूमफील्ड का कथन है कि कुछ स्थलों पर समान्तर सूक्तों की रचना कर पुनरुक्ति की गयी है, जिनमें शब्दों की समानता तो नहीं है परन्तु मन्त्रों का भाव एक ही है। मन्त्रों की, छन्दों की और सामान्य भावों की समानता होने से सूक्तों की समानता स्पष्ट होती है। कुछ उदाहरण निम्न हैं-

श्यावाश्वस्य सुन्वतस्तथा शृणु यथाशृणोरत्रेः कर्माणि कृण्वतः।
प्र त्रसदस्युमाविथ त्वमेक इन्नृषाह्य इन्द्र ब्रह्माणि वर्धयन्।।

(ऋ. 8.36.7)

श्यावाश्वस्य रेभतस्था शृणु यथा शृणोरत्रेः कर्माणि कृण्वतः।
प्र त्रसदस्युमाविथ त्वमेक इन्नृषाह्य इन्द्र क्षत्राणि वर्धयन्।।

(ऋ. 8.37.7)

अन्य उदाहरण-

ऋ. 8.36.18, 8.37.2, 4.432.4.44, 10.652 10.66, 10.358,10.36, 10. 432, 10.44, 10.632. 10.64।

धार्मिक कर्मकाण्डीय आप्री सूक्तों में समानता निम्न प्रकार बतायी गयी है-

ऋ. 1.13, 1.142, 1.18; 2.3, 3.4, 5.5, 7.2, 9.5, 10.70, 10.110

ऋ. 3.4.8-11= 7.2.8-11

इस सम्बन्ध में ब्लूमफील्ड का कथन है कि प्रागैतिहासिक काल के रचित आशीर्वाद के मन्त्रों को बाद के ऋषियों ने ग्रहण कर लिया, जिससे रचनाओं की शैली में अधिक अन्तर नहीं है।

ब्लूमफील्ड द्वारा जो मुख्य आक्षेप आरोपित किए गए हैं, वे निम्न प्रकार हैं-

1. ऋग्वेद के मन्त्रों, अर्थर्चों और पादों की पुनरुक्तियाँ अधिकांशतः साहित्यिक और ऐतिहासिक हैं। प्रतीत होता है कि उस समय में हिन्दुओं को साहित्यिक ज्ञान अपूर्ण था। ब्लूमफील्ड ने निन्दक स्वर में कहा है कि पुनरुक्ति करने वाले कवियों ने दूसरे की कृतियों/ विचारों को अपना कह कर अपने पाण्डित्य के दर्भ को प्रदर्शित किया है। ऋग्वेद के कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों को अपनाने में स्वतंत्र थे, जिसके कारण पुनरुक्तियाँ हुयी हैं।

2. ब्लूमफील्ड के अनुसार ऋग्वेद के सूक्तों की रचना दो बार हुयी है, एक पूर्व में और दूसरी रचना पूर्ववती रचनाओं में वृद्धि करके, पूर्व विचारों को लेकर और कुछ रचनाओं की पुनरुक्ति या समान्तर रचनाएँ करके। ब्लूमफील्ड ने 'A new song for a right old god' (पुराने देवताओं हेतु नये गीत) कहा है।

3. ब्लूमफील्ड का कथन है कि प्रत्येक पुनरुक्त मन्त्रों/ सूक्तों की परस्पर तुलना कर उनके शब्द विन्यास, योग्यता संदर्भ/ प्रसंग, छन्द, ऋषि, देवता के आधार पर उनके कालक्रम का अनुमान किया जा सकता है। कौन सा मन्त्र/मन्त्रांश सूक्त पूर्व का है और कौन बाद का, इस बात का अनुमान किया जा सकता है।

ब्लूमफील्ड ने अपने ग्रन्थ के भाग-एक में ऋग्वेद के मण्डलवार सभी मण्डलों के पादों, अर्धर्चो, मन्त्रों एवं सूक्तों की हुयी पुनरुक्तियों को दर्शाया है। उनके द्वारा दर्शायी गयी अधिकांश पुनरुक्तियाँ ऐसी हैं जो दो बार या अधिक बार उनके ग्रन्थ में आयी हैं।

ब्लूमफील्ड ने अपने ग्रन्थ भाग-दो, चैप्टर-1 विश्लेषणात्मक और व्याख्यात्मक भाग के अन्तर्गत "पुनरुक्तियों की प्रकृति और उनका वर्गीकरण" शीर्षक को दस भागों में विभक्त कर निम्नरूप में सोदाहरण प्रस्तुत किया है-

1. मन्त्रों के समूहों की पुनरुक्ति।
2. सूक्तों के अन्त में टेक (Refrains) के रूप में प्रयुक्त एकल अपरिवर्तित मन्त्रों की पुनरुक्ति।
3. पूर्ण एकलमन्त्रों (जो टेक न हों) की सूक्तों के किसी भाग में पुनरुक्ति।
4. समानार्थक अनुरूप मन्त्रों में अल्प परिवर्तन के साथ पुनरुक्ति।
5. सदृश मन्त्रों (Similar stanzas) की पुनरुक्ति।
6. बिना परिवर्तन के अर्धर्चों की पुनरुक्ति।
7. परिवर्तन रहित अर्धर्चों की पुनरुक्ति।
8. अतिरिक्त पद/ पादों के संयोग से एकल पादों की पुनरुक्ति।
9. दो या अधिक असम्बद्ध पादों की उसी या आसन्न (Adjacent) सूक्त युग्मों में पुनरुक्ति।
10. मन्त्रों के 4, 3 अथवा 2 पादों का विभिन्न मन्त्रों में पुनरुक्ति। इसके भी निम्न चार भाग किए गए हैं।

1. ऐसे मन्त्र जिनके प्रत्येक चरण अन्य विभिन्न स्थलों पर पुनरुक्त हैं।
2. ऐसे मन्त्र जिनके 3 (तीन) पाद अन्य मन्त्रों में पुनरुक्त हैं।
3. ऐसे मन्त्र जिनका एक अर्धर्च और एक किन्हीं दो अन्य मन्त्रों में पुनरुक्त हैं परन्तु एक पाद अपुनरुक्त हो।
4. ऐसे मन्त्र जिनके दो पाद अन्य दो मन्त्रों में पुनरुक्त हुए हैं।

ब्लूमफील्ड ने अपने उक्त ग्रन्थ के भाग-2, चैप्टर-2 में "पुनरुक्त पादों में वर्णों/ पदों के जोड़ने, घटाने या क्रिया पदों में परिवर्तन से छन्दोगत भेद" के अन्तर्गत छन्दोगत परिवर्तनों का वर्गीकरण निम्न प्रकार दिया है, तथा प्रत्येक का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है-

श्रेणी- 1 विभिन्न प्रकार के त्रिष्टुप् और जगती छन्दों के परस्पर परिवर्तन

इनका भी विभाजन निम्न प्रकार किया गया है-

1. बिना अर्थ परिवर्तन के त्रिष्टुप् और जगती छन्दों के परस्पर परिवर्तन।

2. अल्प शब्दों और अर्थ में परिवर्तन के साथ त्रिष्टुप् और जगती छन्दों के परस्पर परिवर्तन।

3. व्याकरणीय परिवर्तन से त्रिष्टुप् और जगती छन्दों के परस्पर परिवर्तन।

4. अर्थ परिवर्तन से त्रिष्टुप् और जगती छन्दों के परस्पर परिवर्तन।

5. काल क्रम के सापेक्ष त्रिष्टुप् और जगती छन्दों के परस्पर परिवर्तन।

6. त्रिष्टुप् और द्विपदा विराज छन्दों के परस्पर परिवर्तन।

श्रेणी 2 द्विपादीय और त्रिपादीय छन्दों के परस्पर परिवर्तन-

इसका विभाजन निम्न प्रकार किया गया है-

1. कृत्रिम जगती या त्रिष्टुप् छन्द।
2. बिमद सूक्त के पाद जो बिना द्विपादी टेक के प्रयुक्त हैं।
3. अन्य टेक पाद जो बिना द्विपादी टेक के प्रयुक्त हैं।
4. पादों से जुड़े हुए द्विपाद जो टेक नहीं हैं।
5. अष्टवर्णीय पादों का सामान्य रूप से त्रिष्टुप् और जगती में विस्तार।
6. अष्टवर्णीय पादों का जगती में विस्तार।
7. अष्टवर्णीय पादों का आकस्मिक परिवर्तन से जगती में विस्तार।
8. अष्टवर्णीय पादों का त्रिष्टुप् में विस्तार।
9. अष्टवर्णीय त्रुटिपूर्ण छन्दों का सामान्य जगती और त्रिष्टुप का पारस्परिक परिर्वतन।
10. अष्टवर्णीय पादों में चार अक्षरों का उपसर्ग रूप में प्रयोग।
11. उपसर्गों के समावेश से विस्तार।

भाग-2, चैप्टर-3- पुनरुक्त पादों के क्रिया पदों में परिर्वतनः शाब्दिक और व्याकरणीय

ब्लूमफील्ड ने मन्त्रों/ मन्त्रांशों के क्रिया पदों में शाब्दिक और व्याकरणीय परिवर्तन कर पुनरुक्ति होना कहा है और इसे दो श्रेणियों में विभक्त किया है, जो निम्न प्रकार हैं-

श्रेणी-1 पुनरुक्त पादों में शाब्दिक परिवर्तन- उदाहरण देते हुए इसके भी निम्न विभाग हैं-

1. एक ही या समान शब्दों में परिवर्तन से निर्मित पाद।

2. बिना छन्द परिवर्तन के पर्यायवाची शब्दों में परस्पर परिवर्तन से निर्मित पर्यायवाची पाद।

3. छन्दों में परिवर्तन कर पर्यायवाची शब्दों में परस्पर परिवर्तन से निर्मित पर्यायवाची पाद।

4. युक्त किए गए या हटाये गए शब्दों से निर्मित पर्यायवाची पाद।

5. देवताओं/ व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के परिवर्तन से निर्मित पर्यायवाची पाद।

6. छन्दों के परिवर्तन/ बिना परिवर्तन से निर्मित अपर्यायवाची पाद।

श्रेणी-2. पुनरुक्त पादों में व्याकरणीय परिवर्तन-

ब्लूमफील्ड के अनुसार व्याकरणीय परिवर्तन में मुख्य क्रिया, क्रिया विशेषण, संज्ञा, सर्वनाम एवं विशेषण वाले शब्दों को अनेक रूपों में परिवर्तित कर मन्त्रों/ मन्त्रांशों में प्रयोग किया गया है। ब्लूमफील्ड ने इस श्रेणी को सोदाहरण ग्यारह (11) भागों में निम्नानुसार विभक्त किया है-

1. क्रिया पदों में ऐच्छिक और छन्दोगत परिवर्तन।

2. द्वितीय और तृतीय पुरुष में परिवर्तन।

3. प्रथम और अन्य पुरुष में परिवर्तन।

4. मुख्य क्रिया और क्रिया विशेषण में परिवर्तन।

5. मुख्य क्रिया और क्रिया विशेषण अथवा जीरन्ड (gerund) या उनके तुल्य शब्दों में परिवर्तन।

6. क्रिया पदों में मिश्रित एवं जटिल परिवर्तन।

7. सम्बोधन के नामों (Vocatives) इत्यादि में परिवर्तन।

8. कर्ता और कर्मकारक विभक्तियों में परिवर्तन।

9. परिवर्तन के अन्य प्रकरण।

10. संख्या और लिङ्ग में परिवर्तन।

11. सर्वनाम पदों का परिवर्तन।

भाग-2, चैप्टर-4 The Themes of the Repetitions अर्थात् पुनरुक्तियों के भाव/ प्रसंग/ विषय- ब्लूमफील्ड का कथन है कि वेदों में पुनरुक्तियों की मात्रा बहुतायत में हैं। इन्द्र के सम्बन्ध में लगभग 250 पुनरुक्तियां हैं, और इतने ही

लगभग अग्नि और सोम के भी हैं। देवताओं और देवता विशेष के सम्बन्ध में उपमाओं व अन्य अलंकारों व वर्णन शैलियों की पुनरुक्ति वेदों में अत्यधिक है। विभिन्न वर्गीकरण के अन्तर्गत ब्लूमफील्ड ने कई विभाग करते हुए उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनके द्वारा किए गए विभाग निम्न प्रकार हैं–

1. एक ही पाद/ पंक्ति/ अर्धर्च का विभिन्न प्रसंगों में प्रयोग।

2. प्रचलित पद/ पादों का विभिन्न प्रसंगों (भावों) में ग्रहण।

3. वेद मन्त्रों में भिन्न परिस्थितियों में अलंकारों का ग्रहण।

14. ब्रह्माण्डीय कार्यों हेतु देवताओं से सम्बन्धित पुनरुक्तमन्त्र (Henotheism) इसके निम्न विभाग हैं–

1. ब्रह्माण्डीय कार्यों हेतु मन्त्रों की सूची।

2. ब्रह्माण्डीय क्रियाओं से सम्बन्धित सूर्य, स्वर्ग और प्रकाश।

3. विभिन्न देवताओं का विश्व या उसके भाग पर और उसके प्राणियों तथा नियमों का नियन्त्रण।

5. अन्य प्रकार की पुनरुक्तियाँ इसके अन्तर्गत निम्न प्रकार की पुनरुक्तियों का उल्लेख है–

1. देवताओं के प्रति श्रद्धा और सेवा भाव।
2. ईश्वरीय प्रेरणा के स्त्रोत के रूप में देवता।
3. श्रद्धा रूप में अर्पण हेतु बर्हि।
4. देवताओं हेतु प्रार्थनाएँ और मन्त्र।
5. सोम अर्पण और अन्य।
6. पाप निवारक/ प्रायश्चित मन्त्रों की पुनरुक्ति।
7. देवताओं के अनुग्रह एवं उपस्थिति हेतु प्रतिस्पर्धी/ विरोधी मन्त्रांशों की पुनरुक्ति।
8. शत्रुओं और दुर्भाग्य से देवताओं द्वारा रक्षां
9. कपट, शत्रुता और दुर्भाग्य के विरुद्ध मन्त्रांशों की पुनरुक्ति।
10. शत्रुओं के विनाश सम्बन्धी मन्त्रांशों की पुनरुक्ति।
11. दीर्घजीवन, सन्तान, समृद्धि और उदार संरक्षता हेतु प्रार्थना के मन्त्रांशों की पुनरुक्ति।

12. पुत्रों और सेवकों हेतु मन्त्रांशों की पुनरुक्ति।
13. आशीर्वाद के मन्त्रांशों की पुनरुक्ति।
14. धन, विशेषतया पशु और घोड़े सम्बन्धी मन्त्रांशों की पुनरुक्ति।
15. स्थायी ख्याति सम्बन्धी पुनरुक्तियाँ।
16. उदार संरक्षता के मन्त्रांशों की पुनरुक्ति।
17. अलंकारों और विधियों की पुनरुक्ति।
18. अन्य उपमाओं की पुनरुक्ति।
19. परम्परागत नियमों के अन्तर्गत विभिन्न पादों/ मन्त्रांशों की पुनरुक्ति।

6. देवताओं से सम्बन्धित पुनरुक्तियाँ- ब्लूमफील्ड का कथन है कि ऋग्वेद में समान या लगभग समान पादों, अर्धर्चों या मन्त्रों का प्रयोग दो या अधिक बार एक ही देवता के लिए किया गया है और दूसरी तरफ उन्हीं का प्रयोग अन्य देवताओं के लिए भी किया गया है। इन पुनरुक्तियों को ब्लूमफील्ड ने निम्न तीन भागों में विभक्त किया है-

1. एक ही देवता अथवा देव समूह से सम्बन्धित पुनरुक्तियाँ।
2. दो भिन्न देवताओं अथवा उनके समूह से सम्बन्धित पुनरुक्तियाँ।
3. दो से अधिक देवताओं से सम्बन्धित पुनरुक्तियाँ।

ब्लूमफील्ड का कथन है कौन सा मन्त्र/ मन्त्रांश का प्रयोग प्रथम हुआ है और कौन बाद में, इसका उत्तर स्पष्ट नहीं होता है/ उपरोक्तं तीनों समूहों से सम्बन्धित देवताओं और उनके कार्यों का संक्षिप्त विवरण निम्न है-

1. एक ही देवता अथवा देव समूह से सम्बन्धित पुनरुक्तियाँ

अग्नि 1. अग्नि का जलना, चमकना और उसका व्याप्ति रूप।
2. मनुष्यों और देवताओं के बीच मध्यस्थ और सन्देश वाहक रूप में।
3. होता के रूप में।
4. ऋत्विज के रूप में।
5. पुरोहित के रूप में।
6. यज्ञ आहुति का धारक और अर्पण प्राप्ति में अग्रणी।
7. पौराणिक और ब्रह्माण्डीय भाव में।
8. मनुष्य का रक्षक और समृद्धि प्रदायक के रूप में।

9. प्रशंसा और आहुति प्राप्त कर्त्ता के रूप में।

इन्द्र 1. वृत्रहन्ता और बन्धक जल के मुक्तकर्ता के रूप में।

2. राक्षसों और दुश्मनों के वधकर्त्ता के रूप में।

3. अन्य दिव्य कर्म।

4. ब्रह्माण्डीय शक्ति और अन्य देवताओं के सम्बन्ध में।

5. युद्धक सामर्थ्य।

6. सोम के मुख्य भोक्ता के रूप में।

7. मनुष्यों के रक्षक और समृद्धि प्रदायक के रूप में।

8. प्रशंसा और आहुति प्राप्त कर्त्ता के रूप में।

सोम 1. धुलाई और सफाई।

2. छानना/ छाँटना।

3. निचोड़ना, प्रवाहित करना और स्वच्छ करना।

4. सोम और उसके अधिमिश्रण।

5. इन्द्र और अन्य देवताओं को सोम का लाभ।

6. मनुष्यों के रक्षक और समृद्धि प्रदायक के रूप मे।

7. दिव्य और अन्य गुण: सोम पूजा।

अश्विनौ 1. अश्विनौ के अद्‌भुत कार्य।

2. मनुष्यों के रक्षक और समृद्धि प्रदायक के रूप में।

3. प्रशंसा और अर्पण प्राप्तकर्ता के रूप में।

उषा

मरुत

आदित्य समूहः मित्र, वरुण, अर्यमा, अदिति।

1. आदित्य की दिव्यता और अन्य श्रेष्ठ गुण।

2. मनुष्यों के रक्षक और समृद्धि प्रदायक के रूप में।

3. सामान्य आदित्य- पूजा/ आराधना।

विश्वेदेवा

सूर्य और सविता (तवस्तर, भग)।

ऋभव, वायु, वृहस्पति, रुद्र, पर्जन्य, विष्णु, सरस्वती, वाच् (वाग्) अहिर्बुध्न्य, द्रधिका, त्राता (सबका रक्षक), देवपत्नयः पितृ, उशिजः, ग्रावा, आप्री, दानस्तुति।

देवताद्वन्द्व- इन्द्र और अग्नि, इन्द्र और वायु, इन्द्र और वरुण, इन्द्र और विष्णु, इन्द्र और बृहस्पति/ ब्रह्मणस्पति, द्यावा-पृथिवी/द्यावा -भूमि, पृथिवी और अन्तरिक्ष।

2. दो भिन्न देवताओं अथवा उनके समूह से सम्बन्धित पुनरुक्तियाँ अग्नि और इन्द्र, अग्नि और सोम, अग्नि और वृहस्पति (ब्रह्मणस्पति), अग्नि और वायु, अग्नि और अश्विनौ, अग्नि और सूर्य/ सविता, अग्नि और त्वष्टा, अग्नि और विष्णु, अग्नि और पूषा, अग्नि और उषा, अग्नि और वरुण, अग्नि और यम, अग्नि और अपान्नपात्, अग्नि और मन्यु, अग्नि और सरस्वती, अग्नि और रात्रि, अग्नि और विश्वेदेवा, अग्नि और देवता द्वन्द्व (इन्द्राग्नी, सोमारुद्रौ, मित्रावरुणौ) इन्द्र और सोम, इन्द्र और मरुतगण, इन्द्र और अश्विनौ, इन्द्र और वायु, इन्द्र और रुद्र, इन्द्र और बृहस्पति/ ब्रह्मणस्पति, इन्द्र और पर्जन्य, इन्द्र और सूर्य/सविता, इन्द्र और त्वष्टा, इन्द्र और विष्णु, इन्द्र और पूषा, इन्द्र और उषा; इन्द्र और वरुण, इन्द्र और वेन, इन्द्र और मन्यु, इन्द्र और सरस्वती, इन्द्र और अप्वा, इन्द्र और रोदसी, इन्द्र और विश्वेदेवा, इन्द्र और मित्रावरुणौ, इन्द्र और इन्द्रावरुणौ, इन्द्राग्नी, इन्द्रवायू और विविध सम्बन्धों में पुनरुक्तियां सोम के साथ ब्रह्मणस्पति, वेन, सविता, पूषा, उषा, सारस्वन्त, वरुण, सदसस्पति, अनुमती, विश्वेदेवा, अग्निषोमौ, मित्रावरुणौ, विष्णुः, इन्द्रावरुणौ, असमती राजा, नद्यः और इन्द्र सम्बन्धी पुनरुक्तियां।

अश्विनौ के साथ उषा, सूर्य, सरस्वती, आदित्याः, मरुतगण, इन्द्रवायू, इन्द्राग्नी, इन्द्रासोमौ, इन्द्राबृहस्पति, इन्द्र, मित्रावरुणौ, और उषासानक्ता सम्बन्धी पुनरुक्तियां।

आदित्यगण के साथ दम्पत्योरशिषः, वायुः मरुत, विश्वेदेवा, ग्रावाण, अग्नि, वरुण के साथ सोमारुद्रौ, सोम, इन्द्र, द्यावापृथिवी, दुःस्वप्नघ्न, विश्वावसु, विश्वेदेवा और इन्द्र मित्र और वरुण के साथ अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेवा, अबोषधिसूर्या, इन्द्रावरुणौ, इन्द्राग्नी, पवमान सोम और इन्द्रावृहस्पति, मरुत के साथ अग्नि, इन्द्र, अश्विनौ, आदित्यगण, विश्वेदेवा, ऋभव, ब्रह्मणस्पति, वायु, इन्द्रावरुणौ, इन्द्राबृहस्पति, सोम और बृबुस्तक्षा।

उषा के साथ अग्नि, इन्द्र, सोम, अश्विनौ, सूर्य/सविता, सरस्वती, वाग्, विश्वेदेवा, आप्रिय।

विश्वेदेवा के साथ अग्नि, इन्द्र, सोम, आदित्यगण, मरुतगण, वरुण, पितृ, मित्रावरुणौ और इन्द्रासोमौ।

सूर्य/सविता/त्वष्टा के साथ अग्नि, इन्द्र, अश्विनौ, उषा, पर्जन्य और विश्वेदेवा।

ऋभव के साथ मरुत गण, अर्बुद का द्रवेयसर्प और प्रजावान्प्राजापत्य वायु के साथ इन्द्र, मरुतगण, आदित्यगण, सिन्धु और इन्द्रवायू। बृहस्पति/ ब्रह्मणस्पति के साथ अग्नि, इन्द्र, सोम, मरुतगण, रुद्र, सरस्वती, अपान्नपात्, इन्द्र और अग्नि।

रुद्र के साथ इन्द्र और बृहस्पति।

पर्जन्य के साथ इन्द्र, सूर्य और विश्वकर्मा।

विष्णु के साथ अग्नि, इन्द्र।

पूषा के साथ अग्नि, इन्द्र, सोम और इन्द्राग्नी।

सरस्वती के साथ अग्नि, इन्द्र, सोम, अश्विनौ, उषा, वायु, ब्रह्मणस्पति वाग् के साथ उषा और विश्वकर्मा।

वेन के साथ इन्द्र।

विश्वकर्मा के साथ पर्जन्य और वाग्।

मन्यु के साथ अग्नि और इन्द्र।

पितृ के साथ विश्वेदेवा, इन्द्राग्नी।

ग्रावाण के साथ आदित्य गण, ऋभव और विश्वेदेवा।

इसके अतिरिक्त विभिन्न सम्बन्धों में आप्रीदेवता, विभिन्न सम्बन्धों में दान स्तुति, छोटे और बड़े देवताओं का सम्बन्ध शीर्षकों के अन्तर्गत पुनरुक्तियाँ बतायी गयी हैं। पुनः "देवता द्वन्द्वों का अन्य देवता द्वन्द्वों या बहुदेवताओं से सम्बन्ध विषयक पुनरुक्तियाँ" के अन्तर्गत इन्द्र-अग्नि, इन्द्र-वायु, इन्द्र-वरुण, इन्द्र-बृहस्पति/ ब्रह्मणस्पति, इन्द्र सोम, इन्द्र-विष्णु, इन्द्र-पूषा, इन्द्र-हरी, अग्नि-सोम, अग्नि-पर्जन्य, मित्रा-वरुणा, उषासानक्ता, द्यावापृथिवी, दैव्याहोतारा, ग्रावाण देवता द्वन्द्वों का अन्य देवता द्वन्द्वों के मन्त्रों/ मन्त्रांशों में हुयी पुनरुक्तियों को दर्शाया गया है।

3. **"दो से अधिक देवताओं से सम्बन्धित पुनरुक्तियाँ"** शीर्षक के अन्तर्गत तदनुसार पुनरुक्तियों को दर्शाया गया है।

भाग-2, चैप्टर-5. ब्लूमफील्ड के कथनानुसार ऋग्वेद में पुराने मूल और नवीन दो प्रकार के सूक्त हैं, पुराने सूक्तों की रचना प्रथमतः पुराने ऋषियों ने की है और उन्हीं के आधार पर नवीन ऋषियों ने पदों/ पादों/ अर्धर्चों/ मन्त्रों/ सूक्तों में निम्न प्रकार के परिवर्तन कर नवीन रचना की है-

1. किसी मन्त्र को दो या अधिक स्थानों पर ठीक उसी प्रकार रखना।

2. अल्प परिवर्तन के साथ किसी मन्त्र को अन्य स्थानों पर रखना।

3. विशेषकर अन्य देवताओं के सन्दर्भ में किसी पद/ मन्त्र का अन्य भाव में प्रयुक्त होना।

4. पादों/ मन्त्रों के छन्दों में परिवर्तन कर पुनरुक्ति करना।

5. बड़े छन्दों वाले पादों/ मन्त्रों में परिवर्तन कर छोटे छन्दों वाले पादों/ मन्त्रों में य इसके उलट प्रक्रिया से पुनरुक्ति करना।

6. नए सन्दर्भ में किसी पाद/ मन्त्र की पुनरुक्ति करना।

इनके अनेक उदाहरण ब्लूमफील्ड ने प्रस्तुत किये हैं। इसके अतिरिक्त मण्डलवार अनेक मन्त्रों से पुनरुक्त मन्त्रों की तुलना कर स्तरहीन और कमजोर बताया है। इस हेतु उन्होंने एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है।

भाग-3 में तीन परिशिष्ट दिए गए हैं।

पुनरुक्तियों के सम्बन्ध में अन्य पाश्चात्य विद्वान् हालैण्ड निवासी जे.खोंदा (J. Gonda) ने वेदों में पुनरुक्ति को शैलीगत बताया है। जे. खोंदा कृत प्रसिद्ध ग्रन्थ 'Stylistic Repetition in the Veda' में अनेक भाषाओं जैसे- ग्रीक, डच्, फ्रेंच, जर्मन इत्यादि के उद्धरण उन्हीं भाषाओं में अंकित होने के कारण उनके सही तात्पर्य का ज्ञान नहीं हो पाता है, परन्तु आभास होता है कि वैदिक शैली के समर्थन के साथ-साथ अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने कहीं-कहीं आक्षेप भी किया है। जे. खोंदा ने वेद मन्त्रों के उद्धरण के साथ-साथ अनेक उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, महाभारत, गीता, बाल्मीकि रामायण तथा अनेक विदेशी ग्रन्थों आदि के भी उद्धरण बहुतायत में दिए हैं। श्री खोंदा ने अन्य भाषाओं की पद्यात्मक शैली से वैदिक मन्त्रों की शैलियों की तुलना की है, तथा वेदमन्त्रों में प्रयुक्त विभिन्न अलंकारों, शब्दों वाक्यों आदि का सूक्ष्म परीक्षण किया है। उनके ग्रन्थ में प्राचीन संस्कृत साहित्य और भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में वेदमन्त्रों की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

श्री जे. खोंदा कृत उनके ग्रन्थ का सार यह है कि वेदों में प्रयुक्त पुनरुक्तियाँ वेदों की शैलीगत विशिष्टता की द्योतक हैं।

अपने ग्रन्थ की भूमिका में श्री खोंदा ने अन्य पाश्चात्य विद्वानों पिशेल, गेल्डनर और वर्गेनी के सम्बन्ध में लिखा है कि इन्होंने ऋग्वेद को साहित्य का स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं माना है। उसी संदर्भ में श्री काण्डे, भारतीय विद्वान का सन्दर्भ देते हुए लिखा है कि उन्होंने अपने लेख "अलंकार साहित्य के इतिहास की रूप रेखा-outlines of History of Alankāra literature" में लिखा है कि बिना रूपक और उपमा के कोई भाषा आगे नहीं बढ़ सकती और यह असामान्य अलंकार

(Figures of Speech) वैदिक साहित्य में भी उपलब्ध हैं। श्री खोंदा ने वेदों की शैली को दर्शाने हेतु अपने ग्रन्थ को 25 भागों में सोदाहरण प्रस्तुत किया है, जो निम्न प्रकार है–

1. भूमिका।
2. समतुल्य रचनाओं में मूल और पुरातन शैली पर सामान्य अध्ययन।
3. समतुल्य रचनाएँ और समरूप शब्द-समूह।
4. एक ही विचार की वस्तु निष्ठात्मक और निषेधात्मक अभिव्यंजना। (Positive and Negative Expressions)
5. विपर्यास (Chriasmus)
6. वाक्य में एक ही शब्द/ शब्दों की पुनरावृत्ति (anaphora)।
7. एक ही शब्द/ शब्दों का सब पादों में संगत स्थानों पर पुनरुक्ति (Responsio)।
8. अनुप्रास (Alliteration)।
9. तुकान्त और पदान्त में वर्णों की पुनरुक्ति (Rhyme and Homoiotelenlon)।
10. स्वरों की एकता (समानता-Assonance)।
11. श्लेष (paronomasia)
12. शब्दव्युत्पत्ति में अलंकार विधान (Figura Etymologica)।
13. एक ही शब्द का अनेक रूपों में प्रयोग (Polyptoton)।
14. पूर्व प्रचलित (कथित) शब्दों/ वाक्यों की व्याख्यात्मक रूप से पुनरुक्ति (Explieative Conduplication)।
15. विचार-शृंखला/ घटनाक्रम की अनेक पुनरुक्तियाँ।
16. शब्दों का दुहराव- शब्द समूह और वाक्य।
17. पूरक शब्द समूह।
18. शब्दों व विचारों की पुनरुक्ति (Perseveration)।
19. मन्त्र-पदों/ पादों के आकार में वृद्धि (Amplification)।
20. सारूप्यता/ समानता (Identifications)।
21. क्रमागत पदान्तों में शब्दों या उक्तियों की पुनरुक्ति(Epiphora)।

22. निरुक्ति/शब्दव्युत्पत्ति (Etymologies)।

23. गणना (Enumeration)।

24. विशिष्ट व्यक्तिवाचक/निजीनाम (Proper Names)।

25. छोटे वाक्य (Sentence Contraction)।

निम्नांकित विद्वानों ने अपने-अपने लेखों के माध्यम से ठोस तर्क एवं कारण प्रस्तुत करते हुए सिद्ध किया है कि वेदों में पुनरुक्ति दोष नहीं है। इस सम्बन्ध में अन्य अनेक विद्वानों का भी यही मत है।

1. पं. जगदेव सिंह 'सिद्धान्ती' शास्त्री।

2. महामहोपाध्याय स्व. पं. युधिष्ठिर मीमांसक।

3. आचार्य पं. धर्मदेव विधामार्तण्ड

4. डॉ. रामनाथ वेदालकार 'विद्यामार्तण्ड'।

5. डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री।

6. डॉ. रघुवीर वेदालंकार आदि

उपरोक्त विद्वानों द्वारा दिए गए कारणों से वेदों में किसी भी स्थल पर पुनरुक्ति दोष नहीं है। उक्त विद्वानों के सम्बन्धित शोध निबन्ध 'वेदों में पुनरुक्ति दोष नहीं' नामक ग्रन्थ में देखे जा सकते हैं जिसे हितकारी प्रकाशन समिति हिण्डौन सिटी ने प्रकाशित किया है।

वेदार्थों को जानने हेतु देवता, ऋषि, छन्द और प्रसंग का ज्ञान होना आवश्यक है। प्राचीन आचार्यों का कथन है कि ऋषि, देवता और छन्दों के ज्ञान के बिना वेदार्थ को आत्मसात् करना असम्भव है। महर्षि यास्क के अनुसार एक ही देवता अपने ऐश्वर्य के कारण उपकरण, उपकर्त्तव्य आदि बहुत से रूपों में ऋषियों द्वारा प्रशंसित हैं। कात्यायन के अनुसार महान् आत्मा ही एक देवता है, वही सब पदार्थों में विद्यमान है। यही एक आत्मा ही सब विकारों की प्रकृति है अर्थात् जगत् के सब विकार इसी में होते हैं अथवा सम्पूर्ण जगत् का निर्माता है-

एकैव वा महानात्मा देवता। स हि सर्व भूतात्मा।
तद्विभूतयोऽन्या देवताः॥ सर्वानुक्रमणी 14.16.18॥

अतएव ऋषि अश्व आदि प्राकृतिक तत्त्व की स्तुति करते समय विविध विकारों में विद्यमान उस एक महान् आत्मा की ही स्तुति करता है। महर्षि दयानन्द ने 'देव' शब्द का मूल अर्थ परमात्मा माना है। परमात्मा ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च नियन्ता है। इन्द्र, वरुण, मित्र, विष्णु आदि विविध नाम उस परमात्मा की

विभिन्न शक्तियों एवं गुणों के व्यञ्जक हैं। वेदों में एकदेवतावाद का ही प्रतिपादन है-

"एकं सद् विप्रा वहुधा वदन्ति।"

अतः विद्वान् एक ही सत्ता का अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। यास्क ने भी सभी देवताओं को एक आत्मा के प्रसंग में स्वीकार किया है। बृहदेवता में एकेश्वरवाद का मुक्त कण्ठ से समर्थन किया गया है, और उसका शाश्वत सिद्धान्त- एकमेवाद्वितीयम् है यास्क ने देवताओं का वर्गीकरण निम्न दो प्रकार से किया है-

प्रथम	द्वितीय
1. पृथिवी स्थानीय -अग्नि	1. प्रत्यक्ष देवता
2. अन्तरिक्ष स्थानीय- वायु और इन्द्र	2. परोक्ष देवता
3. द्युस्थानीय- सूर्य	3. आध्यात्मिक

आचार्य राजवीर शास्त्री कृत "वैदिक कोष" में वैदिक देवताओं के अनेक अर्थ दिए गए हैं, उनमें से प्रमुख देवताओं के अर्थ परमात्मा को ही इंगित करते हैं, अन्य को नहीं। इसी सम्बन्ध में स्पष्ट करना है कि "वैदिकदेवता" और "वैदिक ऋषि" पर प्राचीन एवं वर्तमान विद्वानों का मत है कि ऋषि स्वयं वेदमन्त्रों के निर्माता नहीं बल्कि अर्थद्रष्टा थे। वेदमन्त्र तो अपौरुषेय हैं, परमात्मा की वाणी हैं, जो सृष्टिकाल और प्रलयकाल दोनों में सदा आकाश में रहते हैं। सृष्टि के सृजन के साथ ही ये मानवों के लौकिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान और उनके हितार्थ चार योग्यतम ऋषियों को प्रत्यक्ष किए जाते हैं तथा गुरु-शिष्य परम्परा से श्रुति के माध्यम से इनका प्रसार होता है, ग्रन्थों में आबद्ध होकर तो बहुत बाद में आए हैं। ऋग्वेद का मन्त्र निम्न रूप में द्रष्टव्य है-

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥ (ऋ. 10.90.9)

ऋग्वेद का कथन है कि वेद रूपी वाणी विभिन्न रूपों वाली है और नित्य है-

वाचा विरूप नित्यया। (ऋ. 8.75.6)

ऋषियों के सम्बन्ध में यास्क का कथन है कि-ऋषियों ने वेदों का प्रातिभ चक्षु से साक्षात्कार किया। वे वेदों के वस्तुतः कर्त्ता नहीं हैं-

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। (निरुक्त 1.20)

न्यायदर्शन के अनुसार ईश्वर आप्त (प्रामाणिक) है, अतः आप्त वाक्य होने के कारण वेद प्रामाणिक है-

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्।।

(न्याया 2.1.68)

वैशेषिक दर्शन भी कहता है, ईश्वरीय वाक्य होने के कारण वेद प्रामाणिक हैं- तद्वचनाद् आम्नायस्य। (वैशेषिक 1.1.3)

महर्षि अरविन्द का कथन है कि ऋषि सूक्त/ मन्त्र के निर्माता नहीं थे, वे द्रष्टा थे। वेद मन्त्रों में प्रतीकों का आश्रयण किया गया है, जो ऊपर से तो भौतिक अर्थ बताते हैं, ये मौलिक अर्थ के आवरण से ढ़के हुए हैं, और ये आवरण कहीं घना और कहीं स्पष्ट है, परन्तु इनका वास्तविक अर्थ गूढ़ और आध्यात्मिक होता है क्योंकि इनमें वैदिक संस्कृत के द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग है। वैदिक प्रतीकों का अभिप्राय ज्ञात हो जाने से इनके सच्चे अर्थों का ज्ञान हो जाता है। वेद का प्रत्येक तत्त्व दूसरे प्रत्येक तत्त्व के साथ गुंथा हुआ है। महर्षि अरविन्द का कथन है कि ऋग्वेद अपने सब मण्डलों में एकवाक्यता रखता है। उसके दस मण्डलों में एक ही तत्त्व, एक ही विचार, एक से अलंकार और एक ही से वाक्यांश पाते हैं क्योंकि ऋषिगण एक ही सत्य के द्रष्टा हैं, और उसे अभिव्यक्त करते हुए वे एक समान भाषा का प्रयोग करते हैं। महर्षि अरविन्द ने स्पष्ट कहा है कि वेदों के समस्त मन्त्र/ सूक्त/ मण्डल एक दूसरे से सम्बद्ध और परस्पर ग्रथित हैं, जिससे प्रत्येक भाग एक दूसरे भाग पर प्रकाश डालते हैं। इनमें असंगति तभी दिखती है, जब हम उनके आवरण को नहीं हटा पाते हैं। इसके अतिरिक्त वेदों में प्राचीन आदिम शब्दों तथा घुमावदार भाषा का प्रयोग किया है, जिसको समझ पाना सभी के सामर्थ्य में नहीं है, विशेषतया पाश्चात्य विद्वानों के। महर्षि अरविन्द की वेदों के सम्बन्ध में दृष्टि रहस्यवादी है। ये वेदों में अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों की उपस्थिति मानते हैं। वेद आध्यात्मिक अनुभूतियों के कोश हैं। उन्होने कुछ शब्दों की व्याख्या निम्न प्रकार की है-

1. इन्द्र प्रबुद्ध मन का देवता हे, वृत्र अज्ञान या अविद्या का प्रतीक है।
2. ऋत आध्यात्मिक सत्य है।
3. घृत घी ही नहीं, अपितु ज्ञान के प्रकाश का द्योतक है।
4. वैदिक देवता विश्वव्यापी शक्तियाँ हैं।
5. सरस्वती आन्तरिक ज्ञान को प्रबुद्ध करने वाली शक्ति का नाम है।

पं. वुद्धदेव विद्यालंकार ने अपने ग्रन्थ 'ऋग्वेद मण्डल-मणि-सूत्र' में उदाहरण और प्रमाण सहित ऋग्वेद के समस्त दस मण्डलों में एक सूत्रता, तारतम्यता और परस्पर सम्बद्धता स्थापित की है। इसके अतिरिक्त महर्षि दयानन्द कृत वेद भाष्यों

में भी मन्त्रों, सूक्तों, अध्यायों में एकसूत्रता और सातत्य सिद्ध है।

पाश्चात्य विद्वानों, विशेषतया ब्लूमफील्ड के आक्षेप कि, वेदों में पुनरुक्ति दोष बहुतायत में है; ऋग्वेद में सूक्तों की रचना दो बार हुयी है, एक प्राचीन और एक नवीन जिससे प्राचीन सूक्तों/ मन्त्रों में परिवर्तन कर नवीन का निर्माण किया गया है; वेदों की रचनाएँ आदिम, असभ्य और जंगली कारीगरों की कृति है; ऋग्वेद के समस्त मण्डलों में परस्पर असम्बद्धता है, इत्यादि भारतीय ऋषियों एव विद्वानों द्वारा प्रस्तुत तर्कों/साक्ष्यों एवं विवेचनाओं के आधार पर स्वतः निरस्त हो जाते हैं। वेदों में सामान्यतया समझ में न आने योग्य प्रतीकों का प्रयोग, शब्दों की द्व्यर्थकता, प्राचीन भारतीय संस्कृति का अज्ञान, तपस्वी कर्म और भाव का अभाव और अंग्रेजी भाषी होने से वैदिक संस्कृत के शब्दों के मर्म को न समझने के कारण पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों पर आक्षेप किए हैं। वेद तो अपौरुषेय हैं, ऋषि मात्र अर्थ द्रष्टा हैं, अतः परमात्मकृत वेदों में किन्हीं प्रकार के दोषों की सम्भावना हो ही नहीं सकती है। वेद की वाक्य रचना बुद्धि पूर्वक है, इस सम्बन्ध में वैशेषिक दर्शन का निम्न सूत्र द्रष्टव्य है–

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे।। (वैशेषिक 6.1.1)

वेद में जो वाक्य रचना है, वह सब बुद्धि पूर्वक है, नित्यज्ञान की मूलक है। वेद में भ्रम, प्रमाद आदि की सम्भावना नहीं है। इसी कारण धर्म व अधर्म का बोध कराने में वेद का स्वतः प्रामाण्य है। ईश्वरीय ज्ञान होना इसका मूल है। मानव अज्ञान मिश्रित होता है, पूर्णज्ञानी कभी नहीं। ईश्वरीय ज्ञान पूर्ण और नित्य है। मानव हेतु सम्पूर्ण अपेक्षित ज्ञान वेदरूप में प्राप्त है। यथार्थ धर्म का स्वरूप वहीं से जाना जाता है। इस प्रकार वेदों में किसी प्रकार की अपूर्णता या दोष नहीं है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (125-130) January-June 2019 ISSN 2277-4351

यजुर्वेदीय ब्राह्मणों के सन्दर्भ में 'वाणी' का वेदत्व

डॉ. अपर्णा (धीर) खण्डेलवाल
असिस्टेन्ट प्रोफेसर,
इन्स्टिट्यूट ऑफ ऐड्वान्स्ड साइन्सीस,
डार्टमोथ, एम.ए., यू.एस.ए.

भूमिका

सम्पूर्ण विश्व में मनुष्य ही सर्वोत्तम जीव है, जो वाक्-व्यवहार द्वारा अपने विचार-विनिमय एवं ज्ञान-विज्ञान के चिन्तन को व्यक्त करने में समर्थ है। वास्तव में 'वाक्' भाषा के प्रकाशन का माध्यम है क्योंकि ज्ञान भाषा है और उसकी अभिव्यक्ति वाणी द्वारा ही सम्भव है।[1] निरुक्त में स्पष्टत: कहा है कि जो बोली जाती है, वही भाषा वाक् है।[2] वाणी के महत्त्व की ओर वैदिक ऋषियों ने प्रथमत: ऋग्वेद के वाक्-सूक्त (10.125) में ध्यान आकृष्ट किया है। ऋग्वैदिक दृष्टि में भाषा का संस्कार-सम्पन्न स्वरूप 'वाक्' है।[3]

ऐसा माना गया है कि वैदिक संहिताओं में कहे गये मन्त्रों की ही व्याख्या, विवेचन अथवा विश्लेषण प्राय: ब्राह्मण ग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध है। कहा भी गया है- *'वेदानां ब्रह्मणां व्याख्यानानीमानि'*।[4] मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र को भारतवर्ष की मौलिक निधि माना गया है।[5] इस दृष्टि से यहाँ वाणी के स्वरूप एवं उसके वेदत्व के अध्ययन हेतु शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयी-संहिता की माध्यंदिन शाखा से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण और कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय-संहिता से सम्बद्ध तैत्तिरीय ब्राह्मण को मूल आधार के रूप में ग्रहण किया गया है।

---

1. कपिलदेव द्विवेदी, *भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शास्त्र*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2003, पृ. 43
2. वाक् कस्मात् वचे:। निरुक्त 2.23
3. शशि तिवारी, *ऋग्वैदिक अध्ययन*, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली, 2018, पृ. 216
4. सावित्री देवी शर्मा, *शतपथब्राह्मण के प्रतीक (एक विवेचनात्मक अध्ययन)*,श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट, राजस्थान, 2004, पृ. 301 में उद्धृत।
5. मोतीलाल शास्त्री, *'वेद का स्वरूप विचार'*, राजस्थान पत्रिका पा. लिमिटेड, जयपुर, पृ. 5

वाणी का स्वरूप

वस्तुतः वेद साक्षात् ईश्वर की वाणी है। जिस प्रकार ऋग्वेद-संहिता[1] में वाक्तत्त्व को विरूप और नित्य कहा गया है, उसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में वाणी को प्रथम उत्पन्न होने वाला, अक्षर एवं शाश्वत माना है। यही कारण है कि वाणी से ही समस्त संसार की उत्पत्ति कही गई है- *'वाचं देवी उपजीवन्ति विश्वे'*।[3] इन यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में कर्मकाण्ड का ऐसा विवेचन है कि समस्त संसार यज्ञमय कहा गया है- *'सर्वं यज्ञमयं जगत्'*। यज्ञ-शैली का कथन करने वाले इन ग्रन्थों में बताया गया है कि हम आहुतिकाल के समय जो मन्त्रोच्चारण करते हैं, उसी से समस्त संसार बनता है। शतपथ ब्राह्मण में भी यज्ञ की दृष्टि से इस तथ्य को प्रतिपादित किया गया है। कथित है कि वाणी से ही यज्ञ का स्वरूप बनता है इसीलिए चार ऋत्विजों में से वाक् को यज्ञ का होता माना गया है।[4] क-च-ट-त आदि वर्ण वाणी के माध्यम से शब्दों में परिगणित होकर मन्त्र का रूप लेते हैं। मन्त्र के साथ डाली गई अग्नि में आहुति देवताओं द्वारा ग्राह्य होती है। इस प्रकार वाणी द्वारा ही यज्ञ सफलतापूर्वक सम्पादित किया जाता है।[5] अतः वाणी का स्वरूप उसमें प्रयुक्त शब्दों पर आधारित है।

शब्दों के माध्यम से समस्त व्यवहार सम्भव है। वास्तव में व्यवहार ही समस्त क्रियाकलाप से बने इस संसार का मूल है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसी दृष्टि से वर्णित है कि समस्त प्राणीजन यथा- मनुष्य, गन्धर्व, पशु आदि वाणी द्वारा ही व्यवहार करते हैं और इस प्रकार लोकव्यवहार से ही समस्त भूमण्डल का निर्माण होता है।[6] आचार्य दण्डी ने भी **काव्यादर्श** में शब्द को महत्त्वपूर्ण बताते हुए कहा है कि यदि शब्द रूपी ज्योति संसार में न जलती तो संसार में चारों ओर अधेरा ही रहता।[7] शब्द-व्यवहार पर आधारित इस संसार में ऐसा माना जाता है कि सार्थक शब्द ही ज्ञान के साधन होते हैं। ब्राह्मणकालीन ऋषि ने मनुष्य की वाणी को समझने योग्य माना

---

1. वाचा विरूपनित्यया। ऋग्वेद 8.8.75.6
2. वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य।तै. ब्रा. (तैत्तिरीय ब्राह्मण) 2.8.8.5
3. वही, 2.8.8.4
4. वाग्वै यज्ञस्य होता। श. ब्रा.(शतपथ ब्राह्मण) 12.8.2.23, 14.6.1.15
5. मोतीलाल शास्त्री, *शुक्लयजुर्वेदीय-माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण विज्ञानभाष्य*, 'अध्वरनाम' तृतीयकाण्डान्तर्गत प्रथम खण्ड, जयपुर, पृ. 310
6. वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः। वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता। तै. ब्रा. 2.8.8.4
7. इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
   यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।। काव्यादर्श 1-4

है क्योंकि सभी प्रकार के पशुओं, जीव-जन्तुओं आदि में से केवल मानव-जाति की वाणी ही सार्थक शब्दों से अलंकृत है।[1]

वाणी के स्वरूप को बताते हुए यजुर्वेदीय ब्राह्मणोंमें *'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि'*[2] कहकर शब्द-व्यवहार की ओर संकेत किया गया है अर्थात् वाणी चार प्रकार की है। आगे कहते है कि मेधावी विद्वान् इसके ज्ञाता हैं; उसके तीन पद गुहा में निहित, बुद्धिगम्य और अज्ञात हैं; चौथे पद को ही साधारण मनुष्य बोलते हैं। इस विषय में सायणाचार्य के मतानुसार परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी चार प्रकार के पद होते हैं, मनीषिगण इन चारों पदों के ज्ञाता माने गये हैं। उनके अनुसार परा, पश्यन्ती, और मध्यमा शरीर के मध्य गूढ़ रूप से स्थापित रहते हैं, केवल वैखरी पदों में ही मनुष्य बोलते हैं।[3] अतः शब्द-संचार वैखरी द्वारा सम्भव है, वाणी के अन्य तीनों रूप चैतन्य भाव से स्थित रहते हैं। इस प्रकार वाणी के स्वरूप को समझने हेतु हमें 'परा' को सूक्ष्मतम और 'वैखरी' को स्थूलतम जानना चाहिए। इस प्रकार ऋक्, यजु और साम भेद से सार्थक वाणी के तीन रूप कहे गये हैं- मौन (या धीरे बोलना), थोड़ी से तेज, एवं ऊँची।[4] तीनों तरह की यह वाणी सत्य और अनृत के रूप में सुनाई पड़ती है।[5] एक सन्दर्भ में संगीत की वाणी को 'परम वाणी' कहा गया है[6] क्योंकि कर्णों को प्रिय लगने वाली वाणी वास्तव में परम है। यज्ञ के सन्दर्भ में कहा गया है कि ऋक्, यजु और साम भेद वाली यह वाणी वस्तुतः दैवी है परन्तु अध्वर्यु जब मानुषी वाणी में आदेश देता है 'यह करो वह करो', तभी वेदी चिनी जाती है।[7]

इसके अतिरिक्त भी तैत्तिरीय ब्राह्मण में *'एकाक्षरां द्विपदा षट्पदां च'*[8] बताकर वाणी की विविधता को स्पष्ट किया गया है। एकाक्षर अर्थात् प्रणव रूपी, द्विपद अर्थात् संस्कृत और अपशब्द रूपी, तथा षट्पद अर्थात् प्राकृत, पैशाचिक आदि भाषाओं के भेद से वाणी को षड्विध अथवा उससे भी कहीं अधिक भेद वाली

1. तदेतत्तुरीयं वाचो निरुक्तम् यन्मनुष्या वदन्ति। श. ब्रा. 4.1.3.16
2. तै. ब्रा. 2.8.8.5; श. ब्रा. 4.1.3.17
3. तैत्तिरीयब्राह्मणम् (श्रीमत्सायणाचार्यविरचितभाष्यसमेतम्), (सं.) पुष्पेन्द्र कुमार, नाग प्रकाशक, दिल्ली, 2003, भाग-2, पृ. 759
4. ...त्रेधाविहिता हि वागृचो यजूंषि सामान्यथो यदिदं त्रयं वाचो नूपमुपांशु व्यन्तरामुच्चैः। श. ब्रा. 6.5.3.4
5. ...दैवं च वदति मानुषं चाथो यत्सत्यं चानृतं...। वही, 6.3.1.34
6. एषा वै परमा वाग्या सप्तदशानां दुन्दुभीनां...। वही, 5.1.5.6
7. वागेवोपनिषद्वाचा हि चीयत....सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता। ऋचो यजूँषि सामानि। वही, 10.5.1.1-2
8. तै. ब्रा. 2.8.8.4

आचार्य सायण ने माना है।[1] इस प्रकार वाक्शक्ति को सर्वत्र सहस्र रूपों में व्याप्त जानना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण में भी इस ओर इंगित करते हुए वाणी के लिए 'सहस्र'[2] शब्द का प्रयोग किया गया है।

वाक् द्वारा सृष्टि

यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में कुछ आख्यान ऐसे मिलते हैं, जिन में वाणी को सृष्टि का कारण बताया गया है। जैसे-

तैत्तिरीय ब्राह्मण के आख्यानानुसार प्रजापति ने प्रजा की कामना की। उसने स्वयं को दस भागों में विभक्त करके दशहोतृ मन्त्र के द्वारा तप किया। सृष्टि की कामना से किया गया पर्यालोचन (विवेचन) ही तप है। इस मनन रूपी यज्ञ में अन्तःकरणवृत्ति ही स्रुक् थी। अन्तःकरण आज्य था। प्रजापति ने दशहोतृ मन्त्रानुष्ठान से चतुर्होतृ मन्त्र को रचा। उसने चतुर्होतृ मन्त्र से पुनः तप किया। अपने इस परिश्रम से थक कर प्रजापति ने दीर्घ निःश्वास छोड़ा, जिससे 'भू' शब्द निकला। भू से भूमि को रचा। तत्पश्चात् अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि यज्ञों द्वारा तप किया। अपने इस परिश्रम से थक कर प्रजापति ने दीर्घ निःश्वास छोड़ा, जिससे 'भुवः' शब्द निकला। भुवः से अन्तरिक्ष को रचा। फिर चातुर्मास्य यज्ञ द्वारा तप किया। अपने इस परिश्रम से थक कर प्रजापति ने दीर्घ निःश्वास छोड़ा, जिससे 'सुवः' शब्द निकला। सुवः से द्युलोक की रचना की। इस प्रकार ये भू आदि व्याहृतियाँ लोकत्रय रूप में परिणत हो गई। इन लोकों का अनुसरण करते हुए प्रजा, पशु, छन्द इत्यादि उत्पन्न हुए। इसी प्रकार पंचहोतृ मन्त्र द्वारा तप करके प्रजापति ने क्रमशः असुरों और देवों को रचा। सप्तहोतृ मन्त्र द्वारा तप करके प्रजापति ने फिर स्वर्गलोक की रचना की।[3] इस वाक्य में व्याहृतियों के आधार पर रचे गये यज्ञ द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि कही गई है।

शतपथ ब्राह्मण के आख्यानानुसार पहले सब सलिल था। उन्होंने प्रजा की कामना कर श्रम एवं तप किया। तब सालभर में एक अण्डे से पुरुष बना। वह पुरुष ही प्रजापति हुआ। सालभर बाद उसने बोलने की इच्छा की। उसने 'भू' शब्द से पृथिवी को, 'भुवः' शब्द से अन्तरिक्ष को तथा 'सुवः' शब्द से द्युलोक की रचना की।[4]

---

1. तैत्तिरीयब्राह्मणम् (श्रीमत्सायणाचार्यविरचितभाष्यसमेतम्), (सं.) पुष्पेन्द्र कुमार, नाग प्रकाशक, दिल्ली, 2003, भाग-2, पृ. 757
2. वाग्वाऽएषा निदानेन यत्साहस्रययातयाम्नी...श. ब्रा. 4.5.8.3,
   वाग्वाऽएषा निदानेन यत्साहस्री तस्या एतत्सहस्रं वाचः। वही, 4.5.8.4
3. तै. ब्रा. 2.2.4.1-6
4. श. ब्रा. 11.1.6.1-3

तैत्तिरीय ब्राह्मण के द्वितीय काण्ड के तृतीय प्रपाठक के अष्टम अनुवाक में प्राप्त आख्यानानुसार असुर, पितर, मनुष्य और देव इन चारों सृष्टियों को जल के समान कहा गया है- '*तानि वा एतानि चत्वार्यम्भांसि। देवा मनुष्याः पितरोऽसुराः*'। प्रस्तुत आख्यान में जल को नभ के समान कहा गया है- *'तेषु सर्वेष्वम्भो नभ इव भवति'* अर्थात् सब प्रकार का जल आकाशादि है और ये सब आकाशादि प्रजापति के रूप हैं। इस प्रकार आकाश को समस्त सृष्टि के कारण के रूप में जाना जा सकता है। आकाश का गुण है शब्द। व्याकरण-दर्शन के अनुसार सारा संसार शब्द से ही उत्पन्न हुआ है।[1] शब्द (वाणी) से सृष्टि का अभिप्राय भी आकाश से सृष्टि का उद्भव सिद्ध करता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में इसी ओर इङ्गित करते हुए आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से वनस्पत्ति, वनस्पत्ति से अन्न, अन्न से पुरुष की उत्पत्ति कही गई है।[2] शब्द या वाणी को संसार के रचयिता के रूप में प्रतिपादित करते हुए शतपथ ब्राह्मण में वाणी के लिए प्रयुक्त सृष्टि-प्रक्रिया के मूल तत्त्व विराट्, विश्वकर्मा एवं प्रजापति विशेषण निश्चित ही प्रशंसनीय है।

इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में भी पुनः एक आख्यान में कहा है कि प्रजापति ने प्रजा की इच्छा की। उसके पास उस समय केवल त्रयी विद्या रूपी वाणी ही थी। इस वाणी से प्रजापति ने जल एवं सम्पूर्ण सृष्टि बनाई।[3]

वाणी के लिए विशेषण

अपनी उपरोक्त प्रभावशीलता के कारण वाणी के लिए शतपथ ब्राह्मण में अनेक विशेषण कहे गये हैं। इन विशेषणों द्वारा वाणी के स्वरूप तथा महत्त्व को ज्ञात किया जा सकता है। यथा-'विराट्', 'विश्वकर्मा', 'प्रजापति', 'सर्वभेषजम्', 'लोकम्पृणा', 'इन्द्र', 'अनुष्टुप्', 'धेनु', 'प्राण', 'चन्द्रमा', 'ब्रह्म', 'यज्ञ', 'देवता', 'वसिष्ठ' इत्यादि विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं।[4] अर्थात् वाणी सबसे विशाल है, वाणी से ही विश्व के

---

1. शब्दस्य परिणामोऽयम्....एतद् विश्वं व्यवर्तत। वाक्यपदीय 1.120
2. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः....स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तैत्तिरीयोपनिषद् 2.1
3. श. ब्रा. 6.1.1.8-9
4. वाग्वै विराट्। श. ब्रा. 3.5.1.34,
   वाग् वै विश्वकर्मर्षिः। वाचा हीदं सर्वं कृतम्। वही, 8.1.2.9,
   वाग् वै प्रजापतिः। वही, 5.1.5.6, 13.4.1.15,
   वागु सर्वभेषजम्। वही, 7.2.4.28
   वाग् वै लोकम्पृणा। वही, 8.7.2.7,

सभी कर्म किये जा सकते है, वाणी संसार की पालक और शक्तिशाली है, वाणी सब औषधी है (वाणी रूपी मधुर-हितकारी वचनों से शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक कष्ट दूर होते हैं), वाणी ब्रह्म है, वाणी यज्ञ है, वाणी सब देवता है आदि विशेषणों द्वारा वाणी की सर्वव्यापकता दिखाई गई है।

निष्कर्ष

उपरोक्त सन्दर्भों से वाणी के वेदत्व को निश्चित ही जाना जा सकता है। जिस प्रकार हम सभी वैदिक ज्ञान को शाश्वत और नित्य कहते हैं, उसी प्रकार वाक् तत्त्व को भी शाश्वत और नित्य जानना चाहिए क्योंकि वाणी कुछ और नहीं अपितु अक्षर ब्रह्म ही है। इसी वाणी से त्रयी विद्या प्रकट हुई क्योंकि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय उत्कृष्ट ओम् पद में ही तो विद्यमान है। यही वाणी समस्त सृष्टि के मूल में विद्यमान है। सार्थक शब्दों से युक्त वाणी ही ज्ञान का सृजन करती है और इसी ज्ञान के आधार पर समस्त लोक-व्यवहार एवं क्रियाकलाप निर्भर करता है। वैदिक ज्ञान का सार्थक स्वरूप शब्दों में निहित ज्ञानमय मन्त्रराशि वास्तव में कर्मकाण्डीय गतिविधियों की सफलता की कुँजी है। दार्शनिक रूप से देखें तो भी सृष्टि का कारण वाक् तत्त्व पञ्चमहाभूतों में से मुख्यतः आकाश का गुण माना गया है इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में वाणी को अग्नि, आदित्य, द्यौ कहा गया है।[1] सामान्य शब्दों में कह सकते हैं कि वाणी वह ऊर्जा स्रोत है, जो साक्षात् ईश्वर है, चेतना है, (समस्त शुभाशुभ कर्मों की) प्रेरक है। यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में प्राप्त वाक् तत्त्व विषयक चर्चा को भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत चर्चित ध्वनि-विज्ञान, व्याकरण-शास्त्र में प्राप्त शब्दार्थ, वाक्य आदि कथन, तर्क-शास्त्र में वर्णित शब्द प्रमाण तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययन में कथित मन एवं वाणी के संयोग को समझने में पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

प्राणो वै वाक्। वही, 1.1.2.14
वाग्वै ब्रह्म। वही, 2.1.4.10
वाग्वै यज्ञः। वही, 1.1.2.2, 3.1.3.27,
वागिति सर्वे देवाः। वही, 14.4.3.13

1. वागेव अग्निः। श. ब्रा. 3.2.2.13, वाग्वा अग्निः। वही, 6.1.2.28,
सा या वागसौ स आदित्यः। वही, 10.5.1.4,
वाग्घवा द्यौर्वा। वही, 12.4.1.1

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (131-135) January-June 2019 ISSN 2277-4351

स्मृतिग्रंथों में प्रतिपादित धर्म एवं उसकी प्रासंगिकता

डॉ मोनिका मिश्रा

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
माता सुंदरी कॉलेज, दिल्ली यूनिवर्सिटी

संस्कृत में धर्म शब्द पुल्लिंग तथा नपुंसक लिंग दोनों में मिलता है। वस्तुतः धर्म ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग संस्कृत साहित्य में विविध अर्थों में हुआ है। ऋग्वेद में 50 से भी अधिक बार इस शब्द का कहीं पुल्लिंग में तो कहीं नपुंसक लिंग में प्रयोग हुआ है फिर भी यह निश्चयेन नहीं कहा जा सकता कि धर्म शब्द धृ धातु से निष्पन्न तथा धारण करना अर्थ में प्रयुक्त होता है। ऋग्वेद में धर्म शब्द धार्मिक विधियों अथवा धार्मिक क्रिया संस्कारों के रूप में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक साहित्य में धर्म शब्द के विविध अर्थों पर विचार करते हुए डॉ. पी.वी. काणे ने लिखा है- "किंतु अंत में ये मानव में विशेष अधिकारों, कर्तव्यों, बंधनों का द्योतक, आर्य जाति के सदस्य की आचार विधि का परिचायक एवं वर्णाश्रम का द्योतक हो गया।" -धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ-4

मीमांसा दर्शन धर्म जिज्ञासा को ही प्रमुख प्रतिपाद्य मानते हुए वेदानुमोदित प्रेरक तत्व को ही धर्म मानता है। -मीमांसा सूत्र 1.1.2

वैशेषिक दर्शन भी धर्म की व्याख्या कर अपना प्रमुख प्रतिपाद्य घोषित करता है-

"अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः।
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।।"

-वैशेषिक सूत्र 1.1.1 तथा 1.1.2

इनके अनुसार जिसके द्वारा अभ्युदय अर्थात् आनंद तथा निःश्रेयस अर्थात मोक्ष की प्राप्ति हो उसे ही धर्म कहते हैं। स्मृति ग्रंथों में धर्म का जो लक्षण प्राप्त होता है वह या तो उसका विवरणात्मक स्वरूप प्रकट करता है अथवा धर्म के विविध उपादानों के आधार पर उसका स्वरूप निर्धारित करता है, मनुस्मृति में धर्म के मूल में संपूर्ण वेदों को रखा गया है तथा साथ ही साथ उसमें वेद जानने वालों की स्मृति एवं शील, उनके आचार और सज्जनों की मनस्तुष्टि को रखा गया है-

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मानस्तुष्टिरेव च।। -मनुस्मृति 2.6

धर्म का लक्षण करते हुए मनुस्मृति में कहा गया है कि वेद स्मृति सदाचार तथा अपनी रुचि के अनुसार कार्य को करना-यही धर्म का लक्षण है-

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतश्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।। -मनुस्मृति 2.12

धर्म के इस लक्षण में धर्म की चार बातों की ओर निर्देश किया गया है परन्तु मनुस्मृति में ही आगे धर्म के दस लक्षणों का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें कहा गया है कि संतोष, क्षमा मन को वश में रखना, न्यायपूर्वक धन लेना. पवित्रता, इंद्रियों को वश में रखना, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध ये दस धर्म के लक्षण हैं-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिंद्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। -मनुस्मृति 6.92

इस तरह मनुस्मृति में आए धर्म के दोनों ही लक्षण विवरणात्मक हैं। मनुस्मृति की भांति याज्ञवल्क्य स्मृति में भी धर्म का विवरणात्मक लक्षण ही दिया गया है-

श्रुतिः स्मृतिः सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मानः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्मम् लक्षणमिदं स्मृतम्।।

-याज्ञवल्क्य स्मृति आचार अध्याय-7

मनुस्मृति में वर्णित धर्म के दस लक्षणों की भांति याज्ञवल्क्य स्मृति में यज्ञानुष्ठान, आचार, इंद्रियनिगृह, अहिंसा, दान, वेदाध्ययन तथा ऐसे कर्म करना जो योग के द्वारा आत्मदर्शन कराने में समर्थ हो, श्रेष्ठ धर्म के अंदर विवेचित है।

इज्याचारदमाहिंसा दानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं च परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।।

-याज्ञवल्क्य स्मृति आचार अध्याय-8

मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति के विपरीत पराशरस्मृति में धर्म का कोई स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है। पराशरस्मृति में कहा गया है कि सभी युगों में अलग-अलग धर्म होते हैं। सत्य-युग में तप की प्रधानता थी, त्रेता में ज्ञान की प्रधानता थी, द्वापर में यज्ञ की प्रधानता थी, लेकिन कलियुग में दान की प्रधानता है।

अन्ये कृतयुगे धर्मस्त्रेतायाम् द्वापर युगे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगरूपानुसारतः।।
ततः परम् कृतयुगे त्रेतायाम् ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेव कलौ युगे।। -पराशर स्मृति 1.22-23

इस तरह पराशर स्मृति में केवल तप, ज्ञान, यज्ञ और दान को ही धर्म के रूप में समाहित किया गया है। पराशर स्मृति में यह भी कहा गया है कि वेद को जानने वाले तीन या चार व्यक्ति जिस बात को कहेंगे वही धर्म होगा, हजारों अन्य व्यक्तियों के द्वारा कही हुई बातें धर्म नहीं होंगी।

चत्वारो वा त्रयो वापि ये ब्रूयुर्वेदपारगाः।
स धर्म इति विज्ञेयो नेतरैस्तुसहस्त्रशः।। –पराशर स्मृति 8.15

धर्म किसी व्यक्ति की जीवन प्रणाली का नाम है, और व्यक्ति समाज में रहता है यद्यपि प्रत्यक्षरूप से समाज का धर्म के साथ संबंध नहीं है, किंतु व्यक्ति के बिना जिस तरह समाज और धर्म के बिना व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती उसी तरह धर्म के बिना समाज की भी कल्पना नहीं हो सकती है अतः समाज में धर्म एक परम आवश्यक तथा अपरिहार्य तत्व है।

स्मृति ग्रंथों में भिन्न भिन्न समाज के लिए भिन्न भिन्न धर्मों का विवेचन किया गया है, महर्षि मनु ने कहा कि अपना धर्म निकृष्ट होने पर भी अच्छा है और दूसरे का धर्म उत्तम होने पर भी उचित नहीं है–

वरं स्वधर्मो विगुणो ना पारक्यः स्वनुष्ठितः। –मनुस्मृति 10.97

महर्षि याज्ञवल्क्य ने यह बताया है कि मनसा, कर्मणा और वचसा धर्म का आचरण करना चाहिए किंतु यदि वह धर्म लोकविरुद्ध हो तो उसे भी त्याग देना चाहिए। इस कथन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि धर्म आचरणीय होता है किंतु यदि कोई धर्म समाज विरुद्ध प्रतीत होता हो तो उन दोनों में समाज की ही प्रमुखता होगी।

स्मृति ग्रंथ धर्म शास्त्रीय ग्रंथ है अतः उनमें जितने विषय विवेचित होते हैं वे सब धर्म के अंतर्गत आएंगे। संपूर्ण मनुस्मृति में धर्म के नाम पर मुख्यरूप से तीन विषयों–आचार, व्यवहार, प्रायश्चित का विवेचन हुआ है। याज्ञवल्क्य ने भी इन्हीं तीनों को प्रमुखता देते हुए तीन अध्यायों की रचना की है जबकि पराशर मुनि ने स्मृति ग्रंथ में केवल आचार और प्रायश्चित को विवेच्य बनाया।

मनुस्मृति में धर्म की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि पिता, माता, पुत्र, स्त्री और अपनी जाति के लोग परलोक में साथ नहीं देते हैं, सहायक केवल धर्म ही होता है। मृत्यु के बाद भाई बंधु श्मशान से लौट कर चले जाते हैं, केवल धर्म ही साथ जाता है इसलिए थोड़ा थोड़ा धर्म संचय प्रतिदिन करना चाहिए। धर्म उसी की रक्षा करता है जो धर्म की रक्षा करता है–धर्मो रक्षति रक्षितः। –मनुस्मृति 8.15

मनुस्मृति में सत्य को परम धर्म माना गया है, मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि कोई भी धर्म सत्यवादिता के द्वारा ही बढ़ता है– धर्मः सत्येन वर्धते (मनुस्मृति

8.83) तथा किसी प्रकार का धर्म निर्णय करने में जो व्यक्ति असत्य बोलता है वह नरक-गामी होता है।

मनुस्मृति में सत्य के अतिरिक्त भार्या की रक्षा के द्वारा भी धर्म की रक्षा होती है ऐसा कहा गया है। धर्म को संपादित करने में मनुष्य को भार्या का सहयोग लेना चाहिए, मनुस्मृति की भांति याज्ञवल्क्य स्मृति में भी भार्या की सुरक्षा को धर्म माना गया है। -याज्ञवल्क्य स्मृति आचार अध्याय 78

मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति दोनों में ही धर्म की रक्षा करने के लिए दंड को आवश्यक माना गया है। मनुस्मृति में तो दंड देने के कारण ही राजा चारों आश्रमों का साक्षी माना गया है। -मनुस्मृति 7.17-18

याज्ञवल्क्य मुनि यहां तक कहते हैं कि ब्रह्मा ने सर्वप्रथम दंड को ही धर्म के रूप में निर्मित किया-

धर्मो हि दंडरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा।

-याज्ञवल्क्य स्मृति आचार अध्याय-354

पराशर स्मृति में दान को ही सर्वोत्तम धर्म परिगणित किया गया है।

कलौ पाराशरः स्मृतः। -पराशर स्मृति 1.22-23

इस प्रकार के उद्घोष वाली स्मृति में शरीर रक्षा को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है और कहा गया है कि देश भंग के समय परदेश में, रोग तथा व्यसन के समय में पहले शरीर की रक्षा करनी चाहिए उसके बाद धर्म के विषय में सोचना चाहिए।

इस प्रकार जहां मनुस्मृति धर्म के विविध रूपों में सत्य को सर्वोपरि मानती है वहीं याज्ञवल्क्य स्मृति किसी एक तत्व को प्रमुखता प्रदान नहीं करती है परंतु पराशर स्मृति में दान को सर्वोपरि धर्म माना गया है।

स्मृति ग्रंथों में विवेचित धर्म की प्रासंगिकता (आज के संदर्भ में)

स्मृति ग्रंथों में जिस धर्म का विवेचन हम प्राप्त करते हैं वह वस्तुतः समाज में समुचित रीति से रहने के लिए व्यक्तियों की जीवन प्रणाली का नाम है। स्मृति ग्रंथों में जिस जीवन प्रणाली का वर्णन हुआ है वह वैदिक जीवन प्रणाली को व्याख्यायित करता है।

"धारणात् धर्मः" इस अर्थ में आने वाला भारतीय, आर्य या सनातन धर्म कभी भी मानव-मानव के बीच विभेद की बात कर ही नहीं सकता। मानव की आचार

विधि अथवा जीवन पद्धति का उल्लेख करने के कारण स्मृतियों में विवेचित धर्म आज भी अपनी प्रासंगिकता बनाए हुए है।

स्मृति ग्रंथों में धर्म के अंतर्गत कुछ ऐसे विषयों का विवेचन हुआ है जिनकी प्रासंगिकता विचारणीय हो जाती है जैसे यज्ञ करना, अहिंसा आदि। आज के वैज्ञानिक युग में यज्ञ करने की बातें हास्यास्पद लग सकती हैं किंतु गंभीरतापूर्ण विचार करने पर यज्ञ की भी महत्ता सिद्ध हो जाती है। यज्ञ करने से मानव का तो चित्त शुद्ध होता ही है समस्त प्रकृति भी शुद्ध हो जाती है।

स्मृति ग्रंथों में अहिंसा को धर्म के अंतर्गत स्थान दिया गया है।

अनेक भारतीय ग्रंथों में "जीवो जीवस्य भोजनम्" कहकर पशु हिंसा की बात कही गई है, हमारे स्मृति ग्रंथ भी इसका विरोध नहीं करते हैं, किंतु स्मृति ग्रंथों में जिस अहिंसा का उल्लेख प्राप्त होता है वह यह बताता है कि व्यर्थ में ही ऐसे जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए जो हमारे लिए किसी ना किसी रूप से लाभदायक हैं। इस तरह स्मृति ग्रंथों में विशिष्ट अभिप्राय को अभिव्यक्त करने वाला अहिंसा शब्द आज के युग में भी प्रासंगिक बना हुआ है। पराशर स्मृति में कहा गया है कि सतयुग में तप प्रधान युग था, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलियुग में दान सर्वप्रधान धर्म है। दान को महत्व प्रदान करने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य केवल अपनी इच्छापूर्ति में ना लगा रहे बल्कि वह अपनी अर्जित संपत्ति में से कुछ अंश जरूरतमंद लोगों को प्रदान करे।

आज धर्म शब्द का जो अर्थ हो रहा है वह संप्रदाय अथवा पंथ विशेष को बोधित करता है। उदाहरण के लिए हिंदू धर्म अलग है और हिंदू संप्रदाय अलग। जब हिंदू धर्म का उल्लेख करते हैं तो उससे जिस जीवन प्रणाली का बोध होता है वह वैदिक अथवा सनातन धर्म प्रणाली को द्योतित करता है।

स्मृति ग्रंथों में आया हुआ धर्म शब्द निश्चित रूप से आज के प्रयुक्त धर्म शब्द से पूर्ण रूपेन भिन्न है, इस प्रकार स्मृति ग्रंथों में आगत धर्म तत्व पूर्णतया प्रासंगिक है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (136-143) January-June 2019 ISSN 2277-4351

आधुनिक जीवन में क्रियायोग की प्रासंगिकता

-डॉ. ऊधम सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर, योग विज्ञान विभाग,
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

डॉ. ईश्वर भारद्वाज

प्रोफेसर, योग विज्ञान विभाग
संकायाध्यक्ष, आयुर्विज्ञान एवं स्वास्थ्य संकाय,
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

अज्ञानता एवं अविवेक के कारण जब भावनाओं पर आघात होता है तो क्लेश का जन्म होता है। किसी कार्य की पूर्ति न होने पर जो मन में क्षोभ उत्पन्न होता है, उसे क्लेश कहते हैं। क्लेश को दु:खों का पर्याय कहा गया है। योगदर्शन में क्लेश शब्द का अर्थ शाब्दिक अर्थ से भिन्न है। इसके अर्थ गहरे और सूक्ष्म, दार्शनिक और अध्यात्मिक हैं। महर्षि पतंजलि के अर्थों में क्लेश दु:खों का कारण है। जन्म, जीवन और भोग का कारण भी क्लेश है। क्लेश के कारण ही संसार में आवागमन बना रहता है। अत: क्लेशों से मुक्त होना ही जीवन की वास्तविकता का बोध है। इन क्लेशों से मुक्ति का माध्यम क्रियायोग है जो केवल साधना के दृष्टिकोण से ही नहीं अपितु हमारे दैनिक जीवन के लिए भी उपयोगी है।

पंचक्लेश:

क्लेशों के कारण ही जीवात्मा बार-बार पाँच महाभूतों से निर्मित शरीर, संसार और सांसारिकता के जाल में उलझता है। दुखों से छूटने के उपाय कितने ही खोजे गए लेकिन दुख यथावत् बने हुए हैं। आधुनिक युग में वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक सभी मिलकर मनुष्य को प्रसन्न रखने, दुखों से मुक्ति तथा सुख में उत्तरोत्तर वृद्धि के प्रयास कर रहे हैं किन्तु सुविधाओं और सुखों के साधनों में अतिशय वृद्धि के उपरांत भी मनुष्य अशांत और दुखी ही बना हुआ है।

महर्षि पतंजलि ने क्लेशों की व्याख्या करते हुए लिखा है- **अविद्यास्मिता-रागद्वेषाभिनिवेशा: पंच क्लेशा:**[1] अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश

1. पातंजल योगसूत्र 2/3

ये पांच क्लेश हैं। पांचो क्लेशों के कारण प्राणिमात्र जगत् के प्रपंचों के बन्धन रूप विकारों में आबद्ध होकर पीड़ित होता रहता है। क्लेश ही दु:खों के प्रदाता हैं।

अविद्या:

अविद्या एक प्रकार से भ्रम एवं अविवेक का कारण है, इसके प्रभाव से मनुष्य का विवेक एवं बोध अज्ञान के प्रभाव में आ जाता है। और इसका जीवन विपरीत पथ पर चल देता है। इस विपरीत ज्ञान के कारण नश्वर शरीर को अविनाशी मानने की भूल होती है। यहां तक कि इसी भूल के कारण वह मरण धर्मा शरीर के मोह जाल में पड़कर आत्मतत्व को विस्मृत कर देता है। पतंजलि क्लेशों की व्याख्या करते हुए सर्वप्रथम अविद्या का वर्णन करते हैं-**"अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या"**[1] अर्थात् अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दु:ख में सुख और अनात्मा में आत्मा का ज्ञान अविद्या है। इस सूत्र में अविद्या के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

अनित्य में नित्य का ज्ञान

अनित्य से तात्पर्य जो चिर स्थायी न रहे, जो प्रत्येक क्षण परिवर्तित होता रहे, जो नष्ट हो जाने वाला है, उसे अनित्य कहते हैं। संसार और संसारिक वैभव सब अनित्य हैं। शरीर नाशवान है किन्तु हम इसे शाश्वत समझकर व्यवहार करते हैं। यही अविद्या है।

अपवित्र में पवित्रता का ज्ञान

शरीर कफ, रूधिर, मल मूत्र आदि से निर्मित है, जो अपवित्र माना गया है। इसको पवित्र मानना। अन्याय, चोरी, हिंसा आदि से कमाया हुआ धन अपवित्र है, ऐसे धन को पवित्र मानना। अधर्म, पाप, हिंसा आदि से रंगा हुआ अन्त:करण अपवित्र है, उसको पवित्र समझ लेना अविद्या है।

दु:ख में सुख का ज्ञान

संसार के विषय भोगादि जो केवल दुख प्रदान करने वाले हैं, उनको सुख प्रदाता अथवा सुख स्वरूप समझ लेना अविद्या है। भवन भूमि, पुत्र, धन आदि प्राप्ति के समय सुखकारक प्रतीत होते हैं किन्तु नष्ट हो जाने पर यही दुखदायक बन जाते हैं अत: संसार दुख रूप ही है। कोई वस्तु या सम्बंध प्रारम्भ में सुखकर प्रतीत होता है। और अंत में दु:खदायी बन जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह वस्तु अथवा

---

1. पातंजल योगसूत्र 2/5

सम्बंध मूलरूप से दु:खदायी ही था। अविद्या के कारण दुख की सुखरूप में प्रतीति होती है।

अनात्मा में आत्मा का ज्ञान

देह, मन सहित दस इन्द्रियां एवं चित्त जड़ कहे गये हैं, तथा आत्मा से पृथक् हैं, किन्तु मनुष्य अविद्या के कारण इसी को अपना स्वरूप मान लेता है। आत्मा इस शरीर में चेतन तत्व है, जो देह से सर्वथा असंग है लेकिन अविद्या मनुष्य देह, मन, इन्द्रियों आदि को ही सब कुछ मानकर जीवन पर्यंत इसी ज्ञान में जीवन जीता है तथा मृत्युपर्यंत तटविक बोध न होने के कारण जन्म-मृत्यु के पास में बंधकर संसार में आवागमन करता हुआ दुख भोगता रहता है। यही उसकी नियति बन जाती है। अतः इससे ऊपर उठकर सोचने का प्रश्न ही नहीं होता है।

अस्मिताः

अस्मिता को समझाते हुए पतंजलि अपने सूत्र में लिखते हैं- **दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता**[1] अर्थात् दृक्-शक्ति और दर्शन-शक्ति इन दोनों का, एकरूप सा हो जाना, अस्मिता रूप क्लेश है। दृक् शक्ति पुरूष चेतन और दर्शन शक्ति चित्त जड़ है, ये दोनों एक हो नहीं सकते, किन्तु अविद्या के कारण ही दोनों की एकरूपता सी प्रतीति हो रही है। दृष्टा स्वयं को दृश्य समझने की भूल कर बैठता है। सरल शब्दों में कह सकते है कि पुरुष तथा चित्त दोनों भिन्न होते हुए भी उनकी जो अभिन्न प्रतीति होती है, उसको अस्मिता कहते हैं। स्वामी विवेकानंद लिखते हैं कि "आत्मा ही यथार्थ दृष्टा है, वह शुद्ध, नित्य, पवित्र, अनन्त और अमर है। दर्शन शक्ति अर्थात् उसके व्यवहार में आने वाले यन्त्र कौन-कौनसे हैं? चित्त, बुद्धि अर्थात निश्चयात्मिका वृत्ति, मन और इन्द्रियां ये उसके यन्त्र हैं, ये सब बाह्य जगत् को देखने के लिए उसके यन्त्रस्वरूप हैं और उसकी इन सब के साथ एकरूपता को अस्मितारूप अविद्या कहते हैं"[2]। अस्मिता के द्वारा ही देह और इन्द्रियों में आत्मभाव का प्रादुर्भाव हो जाता है। अहंकार को अस्मिता कहा गया है। मैं बलवान हूँ, बीमार हूँ, दुखी हूँ, सुखी हूँ आदि ये सब उसके आकार हैं।

रागः

राग को परिभाषित करते हुए पतंजलि कहते हैं- **सुखानुशयी रागः**[3] अर्थात्

---

1. पातंजल योगसूत्र 2/6
2. राजयोग, स्वामी विवेकानंद, पृ. स. 147
3. पातंजल योगसूत्र 2/7

सुख के आभास के पीछे रहने वाला क्लेश राग है। शरीर, इंद्रिय और मन में आत्मबुद्धि उत्पन्न हो जाती है, तब राग की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है। जिन विषयों के भोग के कारण शरीर, मन और इंद्रियों को तृप्ति होती है अर्थात् उन्हें सुख प्राप्त होता है, उन विषयों के प्रति विशेष लगाव हो जाता है, जिसे राग कहा जाता है। महर्षि व्यास ने सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है- व्यक्ति के चित्त में सुख या दु:ख की स्मृतियों का संग्रह होता है। उन संगृहीत स्मृतियों के अनुरूप सुख या दुख अनुभव होता है। वस्तुत: सुख या दु:ख का अस्तित्त्व नहीं है, यह व्यक्ति की धारणा मात्र है कि वह किसे सुख और किसे दुख मानता है। इस प्रकार सुखात्मक भावों के प्रति उठने वाली लालसा या प्रीति ही राग कही जाती है।

सुख के आभास के प्रति आकर्षण एवं आसक्ति ही राग है। यह राग हम सभी के जीवन में नित्य नवीन ढंग से किसी न किसी रूप में घटित होता रहता है। राग का संसार बड़ा व्यापक और जटिल है। राग पनपता है व्यक्तियों में, वस्तुओं में। कोई हमें यों ही अच्छा लगने लगता है, और हम अटक जाते हैं। आसक्ति और आकर्षण की डोर से बंधे हम अपने संचित पुण्यों को, संचित तप को गंवाते रहते हैं। होश तब आता है जब यह बहुमूल्य कोष पूर्णत: रिक्त हो जाता है। "सुख की प्रतीति केवल वस्तुओं और व्यक्तियों में ही नहीं पनपती वल्कि विचार और भाव यहां तक कि कल्पनाओं के मायाजाल के आकर्षण में उलझे रहते हैं"।

द्वेष-

यह राग ही द्वेष का कारण है, क्योंकि चित्त में राग के संस्कार जम जाने पर जिन वस्तुओं से शरीर, इन्द्रियां और मन को दु:ख प्रतीत हो अथवा जिनसे सुख के साधनों में विघ्न पड़े, उनसे द्वेष होने लगता है। द्वेष के विषय में पतंजलि कहते हैं- **दु:खानुशयी द्वेष:**[1] अर्थात् दु:ख की प्रतीति के पीछे रहने वाला क्लेश द्वेष है। महर्षि व्यास द्वेष को समझाते हुए लिखते हैं- चित्त में सुख और दु:ख के संस्कार बने हैं, उनमें जो संस्कार दु:ख के हैं, उनकी स्मृति होने पर प्रतिघ, मन्यु, जिघांसा और क्रोध होता है वही द्वेष कहलाता है।

- **प्रतिघ:** प्रतिघ का अर्थ है प्रतिकार का भाव। इसे प्रतिघात करने या बाधा देने का भाव भी कह सकते हैं।
- **मन्यु:** मन्यु अर्थात् मानसिक क्षोभ। मानसिक रूप से क्रोध करना भी कह सकते हैं।

---

1. पातंजल योगसूत्र 2/8

– **जिघांसाः** जिघांसा का अर्थ है हनन करने की इच्छा। जिससे दुःख प्राप्त होता है उसे नष्ट करने की इच्छा का भाव जिघांसा कहलाता है।

– **क्रोधः** शारीरिक भाव से क्रोध करना।

विवेकानंद लिखते हैं कि जिसमें हम दुःख पाते हैं, उसे तत्क्षण त्याग देने का प्रयत्न करते हैं।[1] जो चीजें हमें दुःख देती हैं, उनसे द्वेष उपजता है। मनुष्य के मन की एक निश्चित सरंचना है। उसके अन्तःकरण का एक निश्चित आकार है। व्यक्ति की अपनी मान्यताएं, विश्वास, आग्रह, दृष्टिकोण एवं सोच है। जब व्यक्ति अपनी इन्हीं सीमित सरंचना में बंधना चाहता है जो भी विपरीत घटित होता है तो उसके अपने आग्रह, मान्यताएं एवं विश्वास उसे दुःख पहुंचाने लगते हैं और द्वेष की सृष्टि प्रारम्भ हो जाती है, जो कई श्रङ्ख्लाओं को जन्म देती है जिससे मनुष्य कई जीवन अथवा जन्म जन्मांतरों तक जकड़ा रहता है।

अभिनिवेशः

अभिनिवेश की व्याख्या करते हुए पतंजलि लिखते हैं- **स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः**[2] अर्थात् जो स्वभावतः चला आ रहा है एवं जो विवेकशील पुरूषों में भी विद्यमान देखा जाता है, वह अभिनिवेश अर्थात जीवन के प्रति ममता है। कोई भी प्राणी यह नहीं चाहता कि मेरी मृत्यु हो या मैं इस जगत् में न रहूं। सभी इस संसार में अपनी उपस्थिति चाहते हैं। मृत्यु रूप भय मूढ़जनों की भांति विद्वज्जनों को भी सताता है।

महर्षि व्यास ने इस सूत्र का भाष्य करते हुए लिखा है- अभिनिवेश का भाव सभी में समान भाव से रहता है। सदा बने रहने की इच्छा तब होती है जब किसी ने पूर्वजन्म में मरण का अनुभव किया हो, वर्तमान जन्म में यह अनुभव हुआ नहीं है, इसलिए मरने का भय समान रूप से सभी प्राणियों में पाया जाता है और मरने से बचने के लिए सभी उद्दत दिखायी देते हैं।

क्लेशों की अवस्थाएं :

पंच क्लेशों की अवस्थाओं का महर्षि पतंजलि वर्णन करते हैं- **"अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्"**[3] अर्थात् प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्थाओं वाले समस्त अविद्यादि क्लेशों का मूल कारण अविद्या है।

---

1. राजयोग, स्वामी विवेकानंद, पृ. स. 148
2. पातंजल योगसूत्र 2/9
3. पातंजल योगसूत्र 2/4

प्रसुप्त-

प्रसुप्त क्लेश उन्हें कहा गया है, जो चित्त में स्थिर रहकर भी अपना कार्य सम्पादित नहीं कर पाते। जिस प्रकार बाल्यावस्था में विषयभोग की वासनाएं बीजरूप से विद्यमान रहती हैं, युवावस्था होने पर जाग्रत होकर अपना फल दिखलाती हैं।

तनु-

जिन क्लेशों को क्रियायोग द्वारा शक्ति से रहित कर दिया जाता है, लेकिन उनकी वासनाएं बीज रूप में निरन्तर चित्त में विद्यमान रहती है। क्लेशों की इस अवस्था को तनु कहतें हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति कार्य करने में समर्थ न होकर शांत रहते हैं।

विच्छिन्न-

विच्छिन्न क्लेशों की वह अवस्था है, जिसमें एक क्लेश किसी दूसरे बलवान क्लेश से दबा हुआ रहता है। जैसें द्वेष अवस्था में राग छिपा रहता है और राग अवस्था में द्वेष।

उदार-

जब क्लेश अपने समस्त सहयोगी विषय भोगों को प्राप्त करके अपना कार्य पूर्ण रूपेण सुचारू ढंग से सम्पन्न कर रहे हों, तो उस समय उदार अवस्था कहलाती है।

क्लेश है जन्म-मरण का कारणः

"कर्माशय" अपने आप में अनूठा शब्द है। यह कई अर्थ लिए हुए है। इससे मिलता जुलता शब्द गर्भाशय भी है। जिस प्रकार गर्भ में जीव का आना फिर विकास प्रक्रिया से गुजरना और फिर नौ माह बाद प्रसव वेदना के साथ शिशु के रूप में जन्म लेना कुछ ऐसी ही प्रक्रिया कर्माशय में भी सम्पन्न होती है। अंतर बस इतना है कि गर्भाशय स्थूल शरीर की प्रक्रिया है और कर्माशय सूक्ष्म शरीर की। चित्त में सभी संस्कार बीज रूप में संचित रहते हैं। फिर निश्चित क्रम में इनका अभिवर्धन विकास एवं परिपाक होता है और सुख-दुख के रूप में हमारे समक्ष आ जाते हैं। महर्षि पतंजलि के शब्दों में इसे कर्माशय कहा गया है-**क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः**[1] अर्थात् क्लेश मूलक कर्म संस्कारों का समुदाय वर्तमान और भविष्य दोनों ही प्रकार के जन्मों में भोगा जाने वाला है। कर्माशय को समझने के

1. पातंजल योगसूत्र 2/12

लिए इसके अर्थ को समझना आवश्यक है। कर्म का आशय इसका शाब्दिक अर्थ है ख्र कर्म का प्रसुप्त संचय। कर्म बीज या कर्म संस्कार का जहां संचय होता है, उसे कर्माशय कहते हैं। यह कर्माशय दो प्रकार का कहा गया है- 1 दृष्ट जन्म वेदनीय ख्र जो वर्तमान जन्म मे जाना जाय। 2 अदृष्ट जन्म वेदनीय- जो आगामी दूसरे जन्मों में भोगा जाए। अर्थात् कर्माशय का भोग कुछ इसी जन्म में तथा कुछ कर्मों का भोग आने वाले जन्मों में भोगा जाता है। क्लेश ही शरीर, इंद्रिय एवं मन की समस्त क्रियाओं का कारण है। आगे के सूत्र में महर्षि पतंजलि लिखते हैं- **"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः"**[1] अर्थात् अविद्यादि क्लेश मूल में रहने पर उस कर्माशय के कारण जाति, आयु और भोग इन तीनों कि प्राप्ति होती है। ये तीनों तब तक प्राप्त होते रहते हैं, जब तक कि उसकी जड़ को योगाभ्यास रूपी कुल्हाड़ी से विच्छिन्न नहीं कर दिया जाता है।

क्रिया योग की प्रासंगिकताः

महर्षि पतंजलि ने क्रियायोग को परिभाषित करते हुए कहा है- **तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः**[2] क्रियायोग का अभ्यास क्लेशों को तनु कर देता है। महर्षि पतंजलि ने तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान के अभ्यास को क्रियायोग कहा है। स्व कर्तव्यों का पालन करते हुए जो शारीरिक व मानसिक कष्ट मिलते हैं, उन्हे सहर्ष सह लेना ही तप कहलाता है। स्वाध्याय सद्-ग्रन्थों के आलोक में स्वयं के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया गया है। वेद, शास्त्र, महापुरुषों के द्वारा कहे गए वाक्यों का पठन-पाठन एवं इष्ट देवता के मंत्र का जप करना स्वाध्याय की श्रेणी में आता है। ईश्वर के प्रति समर्पण का भाव ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। जब इन तीनों का अभ्यास किया जाता है तो क्लेशों का प्रभाव कम हो जाता है। क्रिया योग के अभ्यास से क्लेश तनु हो जाते हैं। महर्षि पतंजलि ने कहा है- **"समाधिभावनार्थ क्लेशतनूकरणार्थश्च"**[3] अर्थात् क्रिया योग के अभ्यास से क्लेश तनु हो जाते हैं और यह समाधि की ओर ले जाता है।

क्रियायोग साधना के द्वारा मनुष्य अपने पूर्वजन्म में अर्जित किए गए कर्मों के संस्कारों को इतना दुर्बल कर देता है कि वे फल देने योग्य नहीं रहते हैं। उन संस्कारों को भी समाधि की अवस्था में दग्धबीज करके समाप्त कर देने से चित्त का प्रतिप्रसव हो जाता है। साधक इस प्रकार जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होकर मोक्ष

---

1. पातंजल योगसूत्र 2/13
2. पातंजल योगसूत्र 2/1
3. पातंजल योगसूत्र 2/2

या कैवल्य की स्थिति प्राप्त कर लेता है। जहां सदा-सर्वदा के लिए दु:खों से छुटकारा प्राप्त हो जाता है।

आधुनिक युग में भी क्रियायोग की साधना द्वारा हम शरीर व मन को सुदृढ़ करके भलीभांति जीवन यापन कर सकते हैं। संसार में रहकर भी कमलपत्रवत् अलग रह सकते हैं तथा परमेश्वर के प्रति समर्पण करके स्वयं को मृत्युपर्यंत अभय होकर, निश्चिंत भाव से जीवन व्यतीत कर सकते हैं। किसी भी प्रकार का कष्ट जीवन में नहीं आएगा।

क्रिया योग का अभ्यास करने वाला साधक शारीरिक दृष्टि से बलिष्ठ, विषम परिस्थितियों में भी धैर्यपूर्वक कार्य करने वाला, पाप-पुण्य की समझ वाला, परोपकाररत, भागवद् भक्त, किसी का भी बुरा न चाहने वाला कहा जाता है। आज के भौतिकता के युग में तनावपूर्ण जीवन जीता हुआ व्यक्ति व्याधिग्रस्त, मन व बुद्धि की दृष्टि से विचलित तथा अनिर्णय की स्थिति वाला हो गया है। उसे शरीर, मन व बुद्धि की दृढ़ता देने के लिए क्रियायोग ही एकमात्र साधन है जो सरल, तनावमुक्त, स्वस्थ एवं शांत जीवन व्यतीत करने में सहायक हो सकता है। अत: क्रियायोग को जीवन में अपनाकर आनन्दपूर्ण जीवन जीने का प्रयास करना श्रेयष्कर है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (144-146) January-June 2019 ISSN 2277-4351

उपनिषदों में प्राणायाम का स्वरूप

डॉ. विजेन्द्र प्रकाश कपरूवान

विभागाध्यक्ष, सत्त्वयोगपीठ

अमितग्राम गुमानीवाला, ऋषिकेश

उपनिषदों में प्राणायाम का यद्यपि बहुत अधिक वर्णन नहीं किया गया है तथापि जितना भी प्राणसम्बन्धी वर्णन उपलब्ध होता है उसमें प्राणों का महत्त्व भली भांति प्रतिपादित किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि सभी भूत प्राण से ही उत्पन्न होते हैं तथा प्राणों में ही लीन होते हैं।[1] तैत्तिरीयोपनिषद् में भी इस प्राण से भूतों की उत्पत्ति बतलाकर प्राण को साक्षात् ब्रह्म ही कह दिया गया।[2] प्रश्नोपनिषद् में प्राण की उत्पत्ति आत्मा से बतलाते हुए प्राण के अन्य भेद व्यान, उदान, समान आदि का भी उल्लेख किया गया है। इस उपनिषद् के अनुसार चक्षु, श्रोत्र, मुख, नासिका, पायु तथा उपस्थ में स्वयं प्राण तथा शरीर के मध्य भाग में समान नामक प्राण रहता है। शरीर में फैली हुयी सहस्त्रों नाड़ियों में व्यान नामक प्राण विचरण करता है।[3] मनुष्य के पाप पुण्य के अनुसार उदान नामक प्राण उसको पापलोक अथवा पुण्यलोक को प्राप्त कराता है। पाप तथा पुण्य के मिश्रण से मनुष्य लोक को प्राप्त कराता है। इतना ही नहीं इस उपनिषद् में तो यहां तक कहा गया है कि तेज से संयुक्त होकर प्राण आत्मा को उसके सङ्कल्पित लोक को प्राप्त करा देता है। प्राणवेत्ता विद्वान् पुरुष अमृत हो जाता[4]। कठोपनिषद् में कुछ स्पष्ट रूप में प्राणायाम की एक प्रक्रिया दिखलाई है कि प्रथम प्राणायाम करते समय हृदय देशस्थ प्राण वायु को ऊपर अर्थात् ब्रह्माण्ड में ले जाकर स्थित करता है तथा दूसरा प्राणयाम करते समय अपान वायु को नीचे की ओर धकेलता है। नाभि तथा कण्ठ देशके मध्य हृदय स्थित जीवात्मा की समस्त इन्द्रियां उपासना करती हैं।[5] स्वामी लक्ष्मणानन्द के अनुसार कठोपनिषद् के इस श्लोक में योगदर्शन में निर्दिष्ट प्रथम तथा द्वितीय

---

1. छान्दो. 1.11.5 सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति।
2. तै. उ. भृ. व. अनु. 3- प्राणो ब्रह्मेति व्यजानत।
3. प्रश्नोपनिषद् 2.3-5
4. प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति।
   य एवं विद्वान् प्राणं वेद न ह्यस्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति॥ -प्रश्नो. 2.10.11
5. कठो.- 5.3 ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
   मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥ कठो. 5.3

प्राणायाम की ही विधि बतलायी गयी है।[1] श्वेताश्तर उपनिषद् में भी संक्षेप में प्राणायाम की विधि बतलाई गई है जिसमें प्राणों को सूक्ष्म-क्षीण करना बतलाया है यहां पर वर्णित प्राण की क्षीणता का संकेत कदाचित् योगसूत्र में वर्णित प्राणायाम की दीर्घता सूक्ष्मता की ओर ही है। इसी प्रसङ्ग में श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्राणायाम को मन के एकाग्र करने का साधन बतलाया गया है।

जाबालदर्शनउपनिषद् में प्राणायाम के भेद के बारे में कहा है कि जिस क्रिया द्वारा बाहरी वायु को उदर में भरते हों वह क्रियापूरक कहलाती है अर्थात् सांस द्वारा वायु को भीतर की ओर खींचते हुए पेट (उदर) तक ले जाना पूरक कहलाता है। प्राणायाम तीन प्रकार का बताया गया है-

निम्न, मध्यम और उत्तम।

प्राणायाम करते समय यदि शरीर से पसीना आ जाये तो वह निम्न श्रेणी का प्राणायाम है। शरीर में कम्पन्न होना मध्यम श्रेणी का तथा शरीर का ऊपर की ओर उठता हुआ सा जान पड़ना उत्तम श्रेणी का प्राणायाम माना गया है।[2]

योगकुण्डली उपनिषद् में चार प्रकार के प्राणायामों का वर्णन किया गया है। यथा-सूर्यभदेन, उज्जायी, शीतली और भस्त्रिका।[3] अमृतनादोपनिषद् में प्राणायाम के 3 अंगों-रेचक, पूरक, कुम्भक की चर्चा प्राप्त होती है। साधारणतया बाह्य वायु का शरीर में आपूरण पूरक, शरीर में वायु का विरेचन ही रेचक कहा गया है।[4] तेजोबिन्दु उपनिषद् के अनुसार चित्तादि सभी भावों में ब्रह्म की भावना कर सभी वृत्तियों का निषेध ही प्राणायाम है। प्रपंच का निषेध रेचक है 'ब्रह्मैवास्मि' वृत्ति ही पूरक है, इसवृत्ति की स्थिरता ही कुम्भक है।[5]

ध्यानबिन्दुउपनिषद् में पूरक, कुम्भक एवं रेचक को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश कहा गया है।[6] मण्डलब्राहमणोपनिषद् में षोडश मात्राओं द्वारा पूरक, चौंसठ मात्राओं द्वारा कुम्भक उसी बत्तीस मात्राओं द्वारा रेचक करने का प्राणायाम कहते हैं।[7]

1. ध्यानयोग प्रकाश, पृ. 144
2. जाबालदर्शन उपनिषद्- 4/23-25
3. योगकुण्डल्युपनिषद्- 1/21 सूर्योज्जायीशीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका।
   भेदैरेव समं कुम्भौ यः स्यात्सहितकुम्भकः।
4. अमृतनादोपनिषद्- 10-14
5. तेजोबिन्दु उपनिषद्- 31-33
6. ध्यानबिन्दु उपनिषद्- मं. 21 ब्रह्मापूरक इत्युक्तो विष्णुः कुम्भक उच्यते
   रेचो रुद्र इति प्रोक्तः प्राणायामस्य देवताः।
7. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्-6 पूरक कुम्भक रेचकैः षोडशचतुःषष्टिद्वात्रिशत्संख्यया यथा क्रमं प्राणायामः।

शाण्डिल्योपनिषद् में यम-नियम-आसन से पूर्ण रूपेण सम्पन्न होने के पश्चात् मनुष्य को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से नाड़ियों की शुद्धि हो जाती है।[1] इसी उपनिषद् में आगे कहा है कि प्राण तथा अपान को एकत्रित कर देना ही प्राणायाम होता है। रेचक, पूरक तथा कुम्भक के भेद से प्राणायाम तीन तरह का होता है। वे रेचक, पूरक कुम्भक (प्राणायाम) वर्ण के स्वरूप से युक्त हैं इस कारण प्रणव ही प्राणायाम कहलाता है।[2] योगचूड़ामण्युपनिषद् में पूरक, कुम्भक और रेचक ये तीनों क्रियाओं को साक्षात् प्रणव का ही रूप माना है, इस चिन्तन के साथ द्वादश मात्रायुक्त प्राणायाम करना चाहिए।[3] सूर्य और चन्द्रमा का यह द्वादश मात्रा वाला प्राणायाम साधक के सभी दोषों को समाप्त कर देता है। पूरक में द्वादश कुम्भक में षोडश मात्रा और रेचक में दस मात्रा के प्राणायाम को ओंकार प्राणायाम कहा जाता है। यह प्राणायाम द्वादश मात्रा का सामान्य कोटि का इससे दुगनी मात्रा का मध्यम स्तर का और उसकी तिगुनी अर्थात् 36 मात्रा का प्राणायाम उत्तम कोटि का होता है। उपनिषदों में नाड़ी शुद्ध पर बहुत बल दिया है।

✦✦✦

---

1. शाण्डिल्य उपनिषद्- 1/3/15 यमनियमासनाभ्यास युक्तः पुरुषः प्राणायामं चरेत्। तेन नाडयः शुद्धा भवन्ति॥
2. शाण्डिल्य उपनिषद्- 1/6/1-2
3. योग चूडामण्युपनिषद्-म. 101-104 रेचकः पूरकश्चैव..... निर्णयः।

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (147-154) January-June 2019 ISSN 2277-4351

गुह्योपनिषत्सु गूढं मनोवैज्ञानिकं व्यक्तित्वविकासतन्त्रम्

(Personality Development techniques in Upaniṣhads comparative with western theories)

डा. आर. गायत्रीमुरलीकृष्णः

सहायकाचार्यः, शिक्षाशास्त्रम्,
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नवदेहली।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥[1]

यद्विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति तद्विजिज्ञासितव्य[2] येन आनन्दमयस्य अनन्तस्य सत्यस्य ज्ञानस्यानुभवेन[3] ब्राह्मीस्थितिं प्राप्य व्यक्तित्वस्य सर्वतोमुखविकासं प्राप्नुवन्ति अन्तेवासिनः। अथ का सा विद्या? इति जिज्ञासायाम् उच्यते "उपनिषदिति विद्योच्यते"[4] इति श्रुतिः। उपनिषच्छब्दस्य विशरणगत्यवसाधनैः साकम् उपासना, योगः, उपदेशः, दर्शनमित्यर्थाः प्रसिध्यन्ते। यत्र "असुराणां ह्येषोपनिषत्"[5] इति आसुरीप्रवृत्तेः प्रहाणाय यो उपदेशः प्रादीयत सः आसुरीप्रवृत्तितः "उपनिषद् ब्राह्मी वाव त"[6] इति ब्राह्मीस्थितेः पर्यन्तम् उपनिषद्योगबलेन यः विकासः मनुष्येषु सम्भवति सः विकासः व्यक्तित्वविकासः इति वक्तुं शक्यते। तथैव "उपनिषद्सत्यस्य सत्यमिति"[7] यो वेद तस्य "व्यक्तित्वमन्नमयादानन्दमयकोशपर्यन्तं विकस्यते" अतः अधिकारी "गुह्योपनिषत्सु गूढम्"[8] रहस्यं गुरुभिरुपदिष्टस्सन् "उपनिषत्को" भूत्वा "अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्"[9] च समधीत्य समाहितात्मस्सन् सत्वरजस्तमोगुणेषु, Id & Ego &

---

1. ईशावास्योपनिषत्।
2. छान्दोग्योपनिषत् -6.4।
3. तैत्तिरीयोपनिषद्-ब्रह्मानन्दवल्ली 1.1
4. तैत्तिरीयोपनिषद्-शाङ्करभाष्यम्
5. छान्दोग्योपनिषत् 8.8.4
6. केनोपनिषत् 4.7
7. बृहदारण्यकोपनिषत् 2.1.20
8. श्वेताश्वतरोपनिषत् 1.16
9. तैत्तिरीयोपनिषद्-शाङ्करभाष्यम् 1.3.1

Super Ego इति मानसिकप्रवृत्तिषु च साम्यावस्थां प्राप्नोति। एतदेव व्यक्तित्वस्य सर्वतोमुखविकासः भवति।

अत्र उपनिषदः व्यक्तिनिष्टान् साधारणासाधारणगुणान् विविच्य, तत्त्वं संज्ञाप्य अहं ब्रह्मास्मीति तुरीयावस्थां प्रापयन्ति। इत्थम् उपनिषद्भिः व्यक्तित्वविकासः सम्भवतीति निरूपणावसरे प्राच्यपाश्चात्यसिद्धान्तैः सह व्यक्तित्वविकासन्त्राण्यत्र निरूप्यन्ते।

किं नाम व्यक्तित्वम् -

आङ्ग्लभाषायां व्यक्तित्वं Personality इति शब्देन व्यवह्रियते। अस्य अर्थः भवति यत् Persona = Mask इति। के वयं, किं चिन्तयामो वयं, किं कुर्मो वयम् इत्यादीनां प्रश्नानां समाधानमेव व्यक्तित्वम्।[1] "मानवीयव्यवहाराणां मूलभूतः समुदितः यः धर्मविशेषः अथवा संस्कारसंहतीनां तत्त्वं व्यक्तित्वमिति"- (वुडवर्थ)। Personality is sum total of our character, emotions, intellect, behavior, quality etc. which includes conception of ourselves and also the estimate of outside people about us.

उपनिषत् -

का नाम उपनिषदिति सन्देहे सति उच्यते - "उपनिषदिति विद्योच्यते", असुराणां ह्येषोपनिषत्", "उपनिषद् ब्राह्मी वाव त", उपनिषद्सत्यस्य सत्यमिति, "गुह्योपनिषत्सु गूढम्", इत्यादि पारिभाषिकशब्दैः ज्ञायते उपनिषच्छब्दस्य विशरणगत्यवसादनैः साकम् उपासना, योगः, उपदेशः, दर्शनमित्यर्थाः प्रसिध्यन्ते।अतः आसुरीप्रवृत्तितः ब्राह्मीस्थितेः पर्यन्तं व्यक्तित्वविकासः उपनिषद्योगबलेनैव सम्भवति।

उपनिषत्सु व्यक्तित्वविकासः -

पाश्चात्यानां मते persona इत्युक्ते आवरकम् अतः तादृशः एव अर्थः उपनिषत्सु अपि दरीदृश्यते तथैव व्यक्तित्वविकासः इत्यस्यापि समुचितः अर्थः प्रदत्तः इति ज्ञायते यथा -

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।[2]

सत्यधर्माय अर्थात् यः धर्मः सत्याय कल्पते तादृशधर्मसंस्थापनार्थाय अज्ञानमिति हिरण्मयेन पात्रेण पिहितस्य मुखावरकस्य (Mask/Persona) अपावरणं निष्कासनं हे

---

1. Personality means what we are, what we think, what we do- Swamy Vivekananda.
2. ईशावास्योपनिषत्।

पूषन्[1] हे प्रभाकर सूर्य त्वं निष्कासयतु इति व्यक्तित्वस्य लक्षणं निरूपितम्। अत्र पूषन् शब्दः गुरुवाचकोपि विद्यते अतः अज्ञानावृतस्य चेतसः मुखावरकं सत्याय धर्माय निष्काशयतु इति वक्तुं शक्नुमः। अनेन व्यक्तित्वविकासः नाम सत्यधर्माय मनसः मुखावरकं नाम अज्ञानं निष्कास्य धर्माचरणं कर्तव्यमिति। विशिष्य अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयकोशानामावरकस्य निष्कासनेन आनन्दमयकोशस्य यः प्राप्तिः सः व्यक्तित्वविकासः भवति। तथैव अधः उपनिषत्सु व्यक्तित्वविकासः नाम किमिति उदाहणानि दीयन्ते -

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तमाहुः परमां गतिम्।।[2]
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरमिन्द्रियधारणम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।[3]

आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्मनिराकुर्यां मा मा ब्रह्मनिराकरोत्। अनिराकरणमस्तु अनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु।[4]

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् आवीरावीर्म एधि .....।[5]

इत्याद्याः मन्त्राः व्यक्तित्वविकासप्रक्रियायाः उदाहरणानि वेविद्यन्ते।

उपनिषत्सु व्यक्तित्वविकाससोपानानि Personality Development Steps in Upaniṣads-

तैत्तरीयोपनिषदनुगुणं व्यक्तित्वं मुख्यतः पञ्चायामेषु क्रियाशीलः विद्यते यत् भौतिक-आत्मिक-मानसिक-बौद्धिक-आनन्दा इति (Personality is operational] mainly in five dimensions say Physical, Energical, Mental, Intellectual and blissful) स्वामिविवेकानन्देन भणितम्। अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय- आनन्दमयकोशाः एव व्यक्तित्वस्य पञ्चायामाः विद्यन्ते -

Body & Physical dimension - अन्नमयकोशः तथा प्राणमयकोशः

Mind & mental dimension - मनोमयकोशः

---

1. भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्वहरिदश्वोष्णरश्मयः। विकर्तनार्कमार्ताण्डमिहिरारुणपूषणः। अमरकोशः - 1-3-29-2-6 (vedic deity &Monior Williums Dictionary)
2. कठ. 2-3-10
3. कठ. 2-3-11
4. सामवेदस्य शान्तिपाठः।
5. ऋग्वेदस्य शान्तिपाठः।

Intellect & Intellectual dimension - विज्ञानमयकोशः

Soul & blissful dimension - आनन्दमयकोशः

अत्र या तैत्तिरीयोपनिषदि निगदिता पञ्चकोशप्रक्रिया कीदृशरूपेणव्यक्तित्वं प्रभावयतीति सारण्या स्पष्टीक्रियते।

पञ्चकोशाः (Personality layers)

कोशः	कार्यात्मक-विश्लेषणम्	प्रक्रियाभागाः	शरीरविशेषाः	व्यक्तित्वविकासोप-करणानि
अन्नमयः (Physical)	स्थूलशारीरिकम्-जीवनम् Anatomical	भौतिकशक्तिः	स्थूलशरीरम् (शिरः, बाहू इत्याद्यङ्गानि कार्यं कुर्वन्ति)	शिरः -पार्थिवः दक्षिणःपक्षः-दक्षिणभागः उत्तरः पक्षः-उत्तरभागः आत्मा - शरीरम् पुच्छम् - इदं शरीरम्
प्राणमयः (Energy)	अन्तःशारीरिकम्-आयुः Physiological	क्रियाशक्तिः	सूक्ष्मशरीरम् (5-ज्ञानेन्द्रियाणि, 5-कर्मेन्द्रियाणि च कार्यं कुर्युः)	शिरः -प्राणाः दक्षिणःपक्षः - व्यानः उत्तरः पक्षः - अपानः आत्मा - आकाशः पुच्छम् - पृथिवी
मनोमयः (Mental)	मानसिकम् वाचो निवर्तनम्, आनन्दः, भीतिः .. Psychological	इच्छाशक्तिः	सूक्ष्मशरीरम् (5-ज्ञानेन्द्रियाणि+मनः)	शिरः -यजुः दक्षिणःपक्षः - ऋग् उत्तरः पक्षः - साम आत्मा - आदेशः पुच्छम् - अथर्वाङ्गिरसः
विज्ञानमयः (Intellectual)	ज्ञानात्मकम् उपासनाकर्मणा सर्वान् कामान् समश्नुते Cognition	ज्ञानशक्तिः	सूक्ष्मशरीरम् (5-ज्ञानेन्द्रियाणि+चित्तम्+अहंकारः)	शिरः -श्रद्धा दक्षिणःपक्षः - ऋतम् उत्तरः पक्षः - सत्यम् आत्मा - योगः पुच्छम् - महः
आनन्दमयः (Blissful)	तुरीयम् Unconscious personality	ब्राह्मीस्थितिः	कारणशरीरम् (causal) आत्मा	शिरः -प्रियम् दक्षिणःपक्षः - मोदः उत्तरः पक्षः - प्रमोदः आत्मा - आनन्दः पुच्छम् - ब्रह्मा

उपर्युक्तायां सारण्याम् अन्नमय-प्राणमय-मनोमयकोशाः सर्वेषु मनुष्येषु जन्तुषु पशुपक्षिषु च समानरूपेण भवन्ति। यतः भोजनावासाद्यन्नमयाः श्वासनिश्वासाद्यान्तिरिक-प्रक्रियाः सुखदुःखाद्यनुभवाश्च सर्वेषु प्राणिकोटिषु समानरूपेण भवन्ति। परं विज्ञानं यज्ञं तन्वानः मनुष्यः श्रद्धा, ऋतं (स्पर्धा), सत्यं, योगः, महः (उत्सवः/पूजनं/उत्साहः) इति करणैः मन्त्रद्रष्टारः भवन्ति। अत्र विशेषरूपेण व्यक्तित्वविकासः नाम ज्ञानस्य आत्मसात्करणं केवलं श्रद्धया, स्पर्धया, सत्येन, योगेन, पूजनेन तस्य विकासः जायते इति उपनिषदि स्पष्टीकृतं विद्यते। अत्र सुखम् आनन्दः इत्यनयोः व्यत्यासः ज्ञातव्यः यत् कारणीभूतजन्यः तात्कालिको अनुभवः सुखमिति तथा निष्कारणीभूतजन्यं शाश्वतिकं सुखमानन्दः इति मे अनुभवः। अतः यस्मिन् कार्ये अनिर्वचनीयः आनन्दः जायते सः आनन्दमयकोशः व्यक्तित्वस्य सर्वतोमुखविकासस्तरः इति वक्तुं शक्नुमः। प्रायः एष एव सिद्धान्तः पाश्चात्येषु मास्लो (Maslow) महोदयेनापि प्रतिपादितम्। तस्य सिद्धान्तस्य नाम आत्मयथार्थीकरणसिद्धान्तः। अधः तयोः सिद्धान्तयोः तौलनिकं विमर्शनं क्रियते।

पञ्चकोशाः - आत्मयथार्थीकरणसिद्धान्तः

अब्रहम् मास्लो महोदयेनोक्तः आत्मयथार्थीकरणसिद्धान्तः अपि पञ्चीकरणप्रक्रियायाः सदृशसिद्धान्तमेव प्रतिपादयति। येन व्यक्तित्वविकाससोपानानि पञ्च प्रतिपादितानि यथा-

पञ्चकोशाः - आत्मयथार्थीकरणसिद्धान्तः

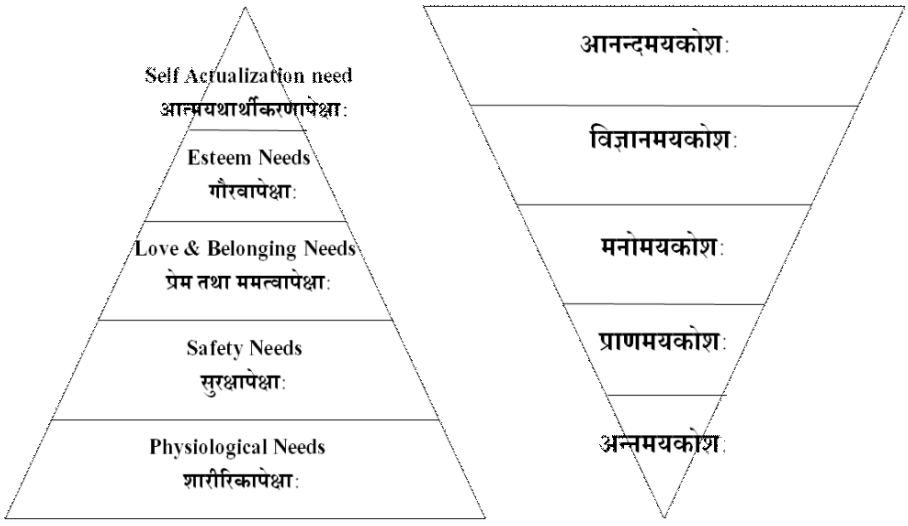

अब्रहं मेस्लो महोदयस्य आत्मयथार्थीकरणसिद्धान्त:
Self Actualization Theory / Needs theory

तैत्तरीयोपनिषदि पञ्चकोशसिद्धान्त:
Panchakosha Theory of Upanishad

अत्र विशेषः नाम पाश्चात्यसम्प्रदाये शारीरिकापेक्षायाः कृते प्राधान्यं दीयते। किन्तु प्राच्यसम्प्रदाये आनन्दस्य प्राधान्यं दीयते। अतः सर्वापेक्षाणां पूर्तेः पश्चात् अन्तिमरूपेण आत्मयथार्थीकरणार्थं प्रयतते पाश्चात्यः परं सर्वान् कोशान् परित्यज्य केवलं आनन्दमयकोशनिमित्तं मोक्षप्राप्त्यर्थं यतते भारतीयः इति व्यत्यासः। यद्यपि सिद्धान्तद्वये सोपानानि प्रायः समानानि दृश्यन्ते परं प्राधान्यं भिन्नं विद्यते अतः चित्रे तत् प्रदर्शितम्। तस्मात् भारतीयव्यक्तित्वविकाससिद्धान्तः आत्मयथार्थीकरणार्थमेव यतते तस्य कृते एकः क्रमः नास्तीति निश्चप्रचम्।

माण्डूक्योपनिषदि - मनोविश्लेषणवादस्य प्रतिबिम्बः

अत्र सिग्मण्डफ्राइड् महोदयस्य मनोविश्लेषणसिद्धान्तेन सह माण्डूक्योपनिषद्व्यक्तित्वं प्रभावयत्कारकाणि तौलनिकरूपेण संस्थापितानि। यत्र भारतीयैः चतुर्थावस्था तुरीयावस्था कथिता सा अवस्था प्रायः पाश्चात्यैः नैव दृष्टा। अतः व्यक्तित्वविकासस्य सर्वतोमुखश्रेष्ठावस्था का इति पाश्चात्यैः नैव ज्ञायते या भारतीयानामत्यन्तं प्राधान्या स्यात्। वस्तुतः ओंकारस्य वर्णनावसरे प्रत्येकमवस्थायाम् अनुभोक्तारः भिद्यन्ते इति माण्डूक्योपनिषदि सुष्ठु निरूपितम्। तेषां क्रियाः अपि भिन्नाः एव। क्रियानुगुणं तत्र व्यक्तित्वं प्रभावितः भवतीति विश्वासः। व्यक्तित्वानुगुणं कश्चन गुणः बहिः प्रकटितः स्यात्। स च गुणः अस्मासु व्यक्तित्वस्य प्रधानांशः भवति। अधः विषयोऽयं सविस्तरं तौलनिकरूपेण पट्टिकायां प्रदर्शितम्। येन सर्वेषां स्पष्टता भवेत् प्राच्यपाश्चात्य-व्यक्तित्वकारकाणि कानि भवन्तीति।

ॐ	अवस्था	भोक्ता	क्रिया	व्यक्तित्वं	कोशः
अ	जाग्रत् Conscious	वैश्वानरः	सर्वान् कामानादिस्व	Id तमः	अन्नमयः प्राणमयः
उ	स्वप्नः Unconscious	हिरण्यगर्भः	ज्ञानसन्ततिं समानस्व	Ego रजः	मनोमयः
म	सुषुप्तिः Subconscious	प्राज्ञः	मितेरपीतेर्वा मिनोति सर्वमपीतिश्च	Super Ego सत्वम्	विज्ञानमयः
अमात्रश्चतुर्थः	तुरीयः	ब्रह्म	प्रपञ्चोपशमः शिवोद्वैतः	साम्यावस्था प्रकृतिः	आनन्दमयः

पट्टिकायां प्रदर्शितरीत्या जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त्यवस्थाः मनुष्याणाम् व्यक्तित्वस्य कोशाः भवन्ति तदा मनुष्याणां व्यक्तित्वानुगुणं भोक्तारः तामसिक-राजसिक-सात्विकप्रकृतिं गृह्णन्ति इति प्रदर्शितम्। यत्र क्रियानामके स्तम्भे प्रदर्शितरीत्या ये मनुष्याः यस्मिन् विषये अधिकम् अवधानं ददति ते तादृशरीत्या क्रियाः कुर्वन्तीति तेषां क्रियाविशेषाणां

प्रदर्शनं कृतम्। अत एव केचन अन्नमयस्य केचन मनोमयस्य केचन विज्ञानमयस्य प्राधान्यं प्रदाय स्वीयप्रवृत्तिं प्रकाशयन्ति। भारतीयपरम्परायां सर्वतोमुखविकासः तुरीयावस्था इति वक्तुं शक्नुमः यस्यामवस्थायां प्रपञ्चोपशमः शिवम् अद्वैतमिति भावनाः मनुष्येषु भवन्ति। एष एव आशयः मुख्यं लक्ष्यं विद्यते अधिगमस्य। "मागृधः कस्य स्विद्धनम्"[1] इति या प्रवृत्तिः सात्विकप्रवृत्तिः भवति सा प्रवृत्तिः विज्ञानेनैव सम्भवति अतः ज्ञानस्य विस्तारः कार्यः। सुषुप्त्यवस्थया सह विज्ञानमयस्य तुलनायाम् एषः अंशः अवगन्तव्यः यत् समस्तं विज्ञानं वाङ्मयम् अधीतशास्त्राणि सर्वाणि अपि मानसिकपटलात् प्रवाहरूपेण बहिरानेतुं सर्वे विषयाः अचैतन्यावस्थायामेव भवेयुः। तथा साधना कर्तव्या। तदा एव प्राज्ञत्वं सम्प्राप्य मितेरपीतेर्वा मिनोति सर्वमपि इति समस्तविज्ञानस्य आधारस्तम्भः इव एषः कोशः प्रतीकात्मकः भवति।

उपनिषद्मनोविज्ञानानुगुणं व्यक्तित्वविकासः –

प्रागुक्तानामंशानामाधारेण व्यक्तित्वविकासम् आङ्ग्लभाषया एवं परिभाषितुं शक्नुमः यत् – It says our inner core of personality is the repository of infinite capability strengths and knowledge. When interacting with the outside world reflects as personality to an outside observer. Hence, the I ness is the core of personality which is like electricity इति। तथैव व्यक्तित्वविकासस्य मूलकारणानि वक्ति छान्दोग्योपनिषदि यथा – न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियोभवति।.....सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।[2] उपनिषत् मनुष्यान् मृत्युभीतेः विमोचयतीति जनक-याज्ञवल्क्यसंवादे सुष्ठु भणितम् एष एव व्यक्तित्वस्य विकासः भवति।[3] Personality development is the inner growth contributing to the other excellence.

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥[4]

इत्थं सर्वाणि उदाहरणानि परिशील्य व्यक्तित्वविकासः नाम कः इति प्रश्नस्य समाधानं उपनिषद्भिः इदमभिज्ञातम् यत् – Personality development is actually discovering. Development of personality is meaningless. Can't develop the

1. ईशावास्योपनिषत् 1
2. छान्दोग्योपनिषत् 2.5
3. छान्दोग्योपनिषत् 1.6
4. ईशावास्योपनिषत् 17

capacity of I ness However we can discover the unexplored infinite possibilities and potential that the I ness is endowed with. This is Upanishad.

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।[1] यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म इति।[2] इत्यादीनि उदाहरणानि व्यक्तित्वस्य सर्वतोमुखविकासं प्रदर्शयन्ति। सर्वं शान्तमेवानुपश्यतः सर्वत्रानन्दावाप्तिः न कोपि प्रियः न कोपि विरोधीति सर्वं ब्रह्मतत्वत्वेनानुपश्यति। तद् अस्मासु एव विद्यते परं अभिज्ञानमावश्यकम्। तदर्थम् उपनिषद्विद्यायाः अध्ययनमनिवार्यम्। न अन्यः पन्थाः विद्यते अयनाय। तदुपदेशः गुरुभिः प्राप्यते। तदर्थं श्रेष्ठः विद्यार्थी भवेत्। तादृशविद्यार्थीनामभिज्ञानार्थं गुरुभिरपि कर्तव्यमिति।

अन्ततोगत्वा निष्कर्षरूपेणेदं वक्तुं शक्यते यत् व्यक्तित्वविकासः अस्मासु सर्वदा वर्तते एव। तस्य विकासः विभिन्नैः विधिभिः करणस्यावश्यकता नास्ति। परं व्यक्तित्वं किमिति अभिज्ञातव्यम्। तेनाभिज्ञानेन आनन्दावाप्तिः शाश्वतः भवति। तद्द्वारा मनुष्यः आसुरीप्रवृत्तितः ब्राह्मी अवस्थापर्यन्तं स्वकीयविकासं अनुभोक्तुं शक्नोतीति शम्।

सन्दर्भग्रन्थसूची -

1. Eight Upanishads Vol- 1 and Vol- 2, Swami Gambhirananda, Advaita Ashrama, Kolkata.
2. Brihadaranyakopanishad with rangaramanujas commentary Vol- 1, Academy of Sanskrit Research, Melkote & 571431.
3. तैत्तिरीयोपनिषत् (भाष्यषट्कोपेता), संस्कृत संशोधन संसत्, मेलुकोटे-571431
4. उपनिषत्संग्रहः, प्रो. जे.एल्. शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
5. Upanishad-Vakya-Maha-Kosa, Shastri Gajanan Shambhu Sadhale, K.C. Publishers, 448, Ring Road, Azad Pur Flyover, Delhi-33.
6. App, अमरकोशः (शब्दकल्पद्रुम-वाचस्पत्यम्-वीलियम-आप्टे डिक्शनरी सहितः), प्रो. मदनमोहनझा, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, क.जे. सोमैयासंस्कृतविद्यापीठ, मुम्बई।
7. Vaidika Vag Jyotih, An International Refereed & Peer Reviewed Research Journal on Vedic Studies, Vol-/वर्ष-6, No-/अंक 10, Gurukula Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar-249404

✦✦✦

1. कठोपनिषत् 1.2.15
2. तैत्तिरीयोपनिषत् 2.22

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (155-170) January-June 2019 ISSN 2277-4351

प्राच्यपाश्चात्यदृशा व्यक्तित्वचिन्तनम्

-डॉ. देवदत्त सरोदे

सहायकाचार्यः (शिक्षाशास्त्रविभागः)
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, मानितविश्वविद्यालयः,
क.जे. सोमैयासंस्कृतविद्यापीठम्, विद्याविहारः, मुम्बई

[बालकस्य सर्वाङ्गीणविकासः इति प्रमुखम् उद्देश्यं शिक्षायाः अस्ति। सर्वाङ्गीणविकासस्य तात्पर्यं शारीरिकविकासः, मानसिकविकासः, शैक्षिकविकासः, बौद्धिकविकासः, अध्यात्मिकविकासः, नैतिकविकासः, सामाजिकविकासः, इत्यादयः। अयं च विकासः व्यक्तित्वेन अभिव्यज्यते, यद् अयं बालकः एवंभूतं व्यक्तित्वं बिभर्ति इति। व्यक्तित्वस्य विकासः सम्यक् सम्पद्यते तर्हि शिक्षायाः उद्देश्यं साधितं भवति। तद् एतत् व्यक्तित्वं मनुजस्य शरीराकारेण, इङ्गितेन, चेष्टया, भाषणेन, व्यवहारेण, नेत्रमुखादिभावैः परिलक्ष्यते। तद्यथा - लोके वयं ब्रूमः अयं दर्शनीयाकारः, आजानुबाहुः, दृढगात्रयष्टिः, गौरवर्णः, आयतललाटः, विशाललोचनः, इत्यादिभिः शब्दैः शारीरिकस्वरूपं शारीरिकं व्यक्तित्वं व्यज्यते। प्रियभाषी, वाक्पटुः, स्पष्टवक्ता, इत्यादिभिः पदैः वाचः स्वरूपं वाग् व्यक्तित्वं प्रकटीभवति। अयं मनस्वी, अयं बुद्धिमान्, अयं मूर्खः, अज्ञानी, ज्ञानी इत्यादिपदैः बौद्धिकस्वरूपं बौद्धिकं व्यक्तित्वं व्यज्यते। अयं परोपकारी, अयं सज्जनः, अयं धर्मात्मा, तथैव शूरः, भीरूः, अयं दुर्जनः, स्वार्थी, लोभी, अधार्मिकः इत्यादि पदैः जनस्य अन्तर्निहितंस्वरूपं मानसव्यक्तित्वं व्यवहारेण प्रकटी भवति। एतदेव कृत्स्नं अस्माभिः पिण्डीकृत्य व्यक्तित्वम् इति पदेन अभिधीयते। अस्मिन् शोधपत्रे प्राच्यपाश्चात्यदृशा व्यक्तित्त्वमभिलक्ष्य विचारो विधीयते।]

संस्कृतभाषायां व्यक्तित्वम् इति पदम् वि उपसर्गात् अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु इत्यस्माद् धातोः क्तिन् प्रत्यये कृते सति व्यक्ति ततः भावे 'त्व' प्रत्यये कृते सति व्यक्तित्वम् इति निष्पद्यते। यस्य कस्यापि मनुजस्य यत् किंचित् मनोवाक्कायैः स्फुटं वा अस्फुटं वा प्रत्यक्षं वा परोक्षं प्रकटीभवति, व्यज्यते, दृश्यते तद् व्यक्तित्वम् इत्युच्यते। व्यक्तित्वम् इति आङ्ग्लभाषायां Personality इति पदेन अभिधीयते। इदं पदं लैटिनभाषायां

Persona इत्यस्माद् पदात् निष्पन्नम् अस्यार्थः नाटकेषु नटानां भिन्नमुखाकृतिसूचकं (Mask) विद्यते।

Personality is defined as the set of habitual behaviors, cognitions and emotional patterns that evolve from biological and environmental factors. While there is no generally agreed upon definition of personality, most theories focus on motivation and psychological interactions with ones environment. Trait & based personality theories, such as those defined by Raymond Cattell personality as the traits that predict a person's behavior. On the other hand, more behaviorally based approaches define personality through learning and habits. Nevertheless, most theories view personality as relatively stable.

साम्प्रतं व्यक्तिनिष्ठानां सामान्यविशेषगुणानां समष्टिरूपं व्यक्तित्वपदेनाभिधीयते। जगति प्रतिव्यक्ति स्व स्वविलक्षणगुणैः पृथक्त्वेन विलोक्यते। मनुजे केचन साधारणगुणाः भवन्ति केचन विशिष्टाः, एते विशिष्टाः अन्येभ्यः पुरुषेभ्यः इमं मनुजं विशिनष्टि अतः अयं जनः येन कारणेन येन हेतुना प्रत्यभिज्ञायते परिगृह्यते वा तदस्य विशिष्टं व्यक्तित्वम्।

प्रसिद्धमनोवैज्ञानिकैः प्रदत्ताः काश्चन परिभाषाः अधस्तात् प्रस्तूयन्ते येन व्यक्तित्वस्य स्वरूपं स्पष्टं भवति।

1. Personality is an integrated pattern of traits - Gilford

   विशिष्टगुणानां समन्वितं स्वरूपं व्यक्तित्वम्। –गिलफोर्ड

2. Personality is the sum of total behavioral trends manifested in his social adjustment - Dashiell

   सामाजिकसमायोजने प्रत्यक्षीभूतं सर्वव्यावहारिकप्रवृत्तीनां कृत्स्नरूपं व्यक्तित्वम् – डाशिल्

3. Personality is the dynamic organization within the individual of those phycho & physical system that determines his unique adjustment to his environment - G.W.Allport

   व्यक्तित्वं नाम मनुष्ये निहितानां विशिष्टानां मानसिकशारीरिकगुणानां गत्यात्मकसंरचना या परिवेषेण सह विलक्षणं समायोजनं करोति – अल्पोर्ट

4. Personality refers to the whole Behavioral pattern of an individual to the totality of its characteristics - Big and Hunt

   व्यक्तित्वं कस्यचित् व्यक्तेः सर्वव्यवहारप्रतिरूपं यत् तस्य अशेषवैशिष्ट्यानां पुञ्जम् अभिव्यनक्ति। –बिग् हन्ट च

मानवजीवने व्यक्तित्वम् असाधारणं महत्वं बिभर्ति। परन्तु मानवजीवतन्त्रम् अत्यन्तं जटिलं तत्र विद्यमानव्यक्तित्वस्य व्याख्यानं दुष्करं पुनरपि मनोवैज्ञानिकैः भृशम् अनुसन्धानं विधाय व्यक्तित्वं व्याख्यातुं केचन प्रसिद्धाः सिध्दान्ताः प्रतिपादिताः। तद् यथा–

1 शरीराकृतिसिद्धान्तः, 2 लक्षणसिद्धान्तः,

3 मनोविश्लेषणात्मकसिद्धान्तः, 4 आवश्यकतासिद्धान्तः Need Theory।

1 शरीराकृतिसिद्धान्तः– अयं सिद्धान्तः मनुष्यस्य शरीराकारस्वरूपमाश्रित्य व्यक्तित्वस्य व्याख्यानं करोति। अस्य सिद्धांतस्य प्रवर्तकाः। 1– हिप्पोक्रेट्स 2– क्रेश्मरः 3– शेल्डन

अति प्राचीनकालादारभ्य व्यक्तित्वं परिभाषितुं नानाविधप्रयत्नाः सञ्जाताः तेषु अन्यतमः प्रयत्नः शरीररचनामाश्रित्य व्यक्तित्वस्य व्याख्यानं विद्यते। हिपोक्रेटस् शरीर-रचनामाश्रित्य व्यक्तित्वस्य व्याख्यानमित्थं चकार।

१) पैत्तिकः (Choleric), २) विषादी (Meloncholic),

३) श्लैष्मिकः (Phlegmatic), ४) वातप्रकृत्तिः (Sanguine)

पैत्तिकः (Choleric) – पैत्तिकजनः शरीराकृत्या, कृशः, दृढः, सांवेगिकदृष्ट्या दुर्बलः च भवति अतः आशुकोपी, असहिष्णुः, उत्साही, कर्मठश्च भवति।

विषादी (Melancholic) – अयं जनः शरीराकृत्या, सांवेगिकदृष्ट्या च दुर्बलः भवति, निराशवादी, दुःखी, शक्तिहीनः, विषादशीलश्च भवति।

श्लैष्मिकः (Phlegmatic) – जनः शरीराकृत्या दुर्बलः, सांवेगिकदृष्ट्या च बलवान् भवति, अतः अयम् अलसः, निद्रालुश्च भवति।

वातप्रकृत्तिः (Sanguine) – अयं जनः शरीराकृत्या स्थूलः, दृढः, सांवेगिकदृष्ट्या च स्थिरः भवति, अतः अयम् उत्साही, हासप्रियः, आत्मविश्वासी च भवति।

क्रेश्मरमहोदयः मानवशरीररचनाः आधृत्य मानवसमूहं त्रिधा विभज्य व्यक्तित्वस्य व्याख्यानमकार्षीत्।

तुन्दिलः (Pyknic) – इमे जनाःस्थूला, वामनाः कुम्भोदराः भवन्ति। एते सामाजिकाः, विनोदप्रियाः, विश्रान्तिप्रियाः भवन्ति।

कृशकायाः (Asthenic) – एते प्रांशवः कृशशरीराः भवन्ति। इमे लज्जाशीलाः, निराशावादिनः, एकान्तप्रियाः, समाजे कुसमायोजिताश्च भवन्ति।

क्रीडकाः (Athletic) – इमे बलवन्तः स्वस्थाश्च भवन्ति। एते सामाजिकाः आशावादिनः कार्यकुशलाः समायोजिताश्च भवन्ति।

शेल्डनमहोदयः मानवशरीररचनाः आधृत्य मनुष्यान् त्रिधा विभज्य, व्यक्तित्वस्य व्याख्यानमकार्षीत्।

1. स्थूलकायाः (Endomorphic) - इमे जनाः स्थूलाः, कोमलाङ्गाः शक्तिहीनाः च भवन्ति। एते भोजनप्रियाः सामाजिकाः, विनोदप्रियाः, विश्रान्तिप्रियाः, परम्परावादिनः, स्नेहशीलाश्च भवन्ति।

2. मध्यकायाः (Mesomorphic) - एते जनाः शरीराकृत्या दृढाः, स्वस्थाश्च बलवन्तश्च भवन्ति। प्रकृत्या इमे साहसिकाः आशावादिनः, निर्भयाः उत्साहिनः, प्रभुत्ववादिनश्च भवन्ति।

3. लम्बकायाः (Ectomorphic) - कृशशरीराः, उन्नताः, आजानुबाहवः भवन्ति। एते निराशावादिनः, एकान्तप्रियाः, श्वाननिद्राः, एकाकिनः, असामाजिकाः, अल्पायासेन श्रान्ताः भवन्ति।

लक्षणसिद्धान्तः -

मनुष्ये विशिष्टाः गुणाः विलक्षणाः धर्माः सन्ति। एते गुणाः प्रतिव्यक्ति भिद्यन्ते अतः अस्य एवं जातीयकं एवंप्रकारकं व्यक्तित्वं विद्यते इति प्रकारेषु व्यक्तित्व विभाजनं न शक्यम्। एतान् गुणान् आधारीकृत्य व्यक्तेः व्यवहारस्य व्याख्या क्रियते अत्र। अस्य सिद्धान्तस्य प्रवर्तकौ अल्पोर्ट, केटल च स्तः।

लक्षणसिद्धान्तः मनुजस्य व्यक्तित्वनिर्माणं नानाप्रकारकैः शीलगुणैः,लक्षणैः संभूय भवति। लक्षणं, शीलगुणः नाम व्यक्तेः व्यवहारं अभिवर्णयितारः ते गुणाः ये व्यवहारं सततं यथार्थरूपेण अभिव्यञ्जयन्ति। तद्यथा - अनुशासनम्, समयपालनम्, परोपकारः, प्रामाणिकत्वम्, कर्तव्यपालनम्, सत्यवादिता इत्यादयः शीलगुणाः सन्ति।

G.W. Allport, Cattell महोदयौ भृशमनुसन्धानं विधाय लक्षणसिद्धान्ते महत् कार्यं कृतवन्तौ।

लक्षणसिद्धान्तः व्यक्तित्वस्य भिन्नं, भिन्नम् आयामं (facet) प्रस्तौति यत् प्रत्येकं स्वतन्त्रं विद्यते, येन आलम्बनेन व्यक्तयो भिद्यन्ते।

G.W. Allport महोदयः - शीलगुणानां तिस्रः प्रवृतीः आह, ताश्च ....

प्रमुखप्रवृत्तिः (Cardinal disposition) - प्रमुखप्रवृत्तिमतां शीलगुणाः व्यक्तित्वस्य प्रमुखशीलगुणाः प्रबलशीलगुणाः भवन्ति ये प्रकटरूपेण दृश्यन्ते न गोपायितुं शक्यन्ते, किञ्च मनुजस्य व्यवहारे स्पष्टतया परिलक्ष्यन्ते एतद्यथा - अहिंसा, करुणा, शान्ति, शीलम् इति गौतमबुद्धस्य, सत्यम्, अहिंसा महात्मनः गान्धेश्च।

केन्द्रीयप्रवृत्तिः (Central disposition) - केन्द्रीयप्रवृत्तिमतां शीलगुणाः मनुष्ये अधिकतया सक्रिया भवन्ति, अपि च मनुजस्य व्यवहारे प्रायः प्रकटिताः परिलक्षिताः भवन्ति, प्रत्येकं जने एतादृशाः पञ्चषाः गुणाः भवन्ति। एते एव गुणाः तस्य व्यक्तित्वं रचयन्ति। यथा - सामाजिकता, उत्साहः, व्यहारिकता, आत्मविश्वासः इत्यादयः।

अल्पोर्ट्महोदयस्य मते व्यक्तित्वं नाम केवलं शीलगुणानां पुञ्जं नास्ति, अपितु शीलगुणानां समन्वयः सातत्यं च भवति, एतदेव तस्य मनुजस्य वैलक्षण्यं नैजमिति प्रतिभाति।

गौणप्रवृत्तिः (Secondary disposition) - गौणप्रवृत्तिमतां शीलगुणाः ते सन्ति ये उपसर्जनीभूताः भवन्ति, एतादृशाः गुणाः जनस्य समानव्यवहारे सदृश्यक्रियाकलापे कदाचित् विलोक्यन्ते क्वचित् नापि दृश्यन्ते, एभिः व्यक्तित्वस्य व्याख्यानं दुष्करम्। यथा - बहिर्मुखव्यक्तित्वस्य सामाजिकता इति केन्द्रीयप्रवृत्तिवान् शीलगुणः भवति, तर्हि अन्तर्मुखव्यक्तित्वस्य कृते सामाजिकता इति गौणप्रवृत्तिमान् शीलगुणः भवति।

अल्पोर्ट्महोदयस्य मते व्यक्तित्वं नाम केवलं शीलगुणानां पुञ्जं नास्ति, अपितु शीलगुणानां समन्वयः सातत्यं च भवति एतदेव तस्य मनुजस्य वैलक्षण्यं, नैजमिति प्रतिभाति।

3 मनोविश्लेषणात्मकसिद्धान्तः - सिग्मण्डफ्रायडमहोदयः मानवव्यक्तित्वसंरचनां स्पष्टीकर्तुं प्रत्ययद्वयं प्रतिपादितवान् -

1. मनसः स्तरत्रयम् - १. चेतनमनः, २. अर्धचेतनमनः, ३. अचेतनमनः

2. सिग्मन्ड फ्रायड् महोदयः मनुष्ये विद्यमानानां भावानां त्रिधा मतित्वेन विभागमकार्षीत्।

१. इदं Id, २. अहं Ego, ३. परा अहं Super Ego

इदं, अहं, पराअहं इति एतत् घटकत्रयम् सुगठितं समन्वितं च भवति तर्हि व्यक्तित्वं समीचीनं भवति। यदि एतेषु परस्परं समन्वयं न भवति तर्हि तस्य असमायोजितं व्यक्तित्वं भवति।

1. चेतनमनः - मनुष्यः जागृतावस्थायां यद् व्यवहरति, तत्र विना आयासेन या स्मृतिः विलसति, ये भावाः अनुभवाः, विचाराः भवन्ति, एतान् भावान् विचारान् अनुभवान् द्रुतं स्मर्तुं प्रभवति, एतादृशं मनः चेतनमनः अथवा जागृतमनः इति उच्यते, एतत् मनसः १०% भागः एव। एते भावाः विचाराः मनुष्यस्य व्यवहारं व्यक्तित्वं च प्रभावयन्ति।

2. अर्धचेतनमनः - चेतनमनसोऽपेक्षया ईषद् गहनम् अन्तर्लीनं भवति अत्र

स्मृतौ संस्काराः, इच्छाः वासनाः भावाः विचाराः अनुभवाः विस्मृतविषयाः विराजन्ते, एते प्रयत्नेन स्मृतिपथि आनेतुं शक्यन्ते। वस्तुतः अस्माकम् अधिकव्यवहारः अनेन मनसैव प्रवर्तते, अतः अस्य व्यक्तित्वे व्यवहारे प्रभावः जायते एव नात्र संशयलेशः।

3. अचेतनमनः - मनुजस्य दमितवासनाः, अतृप्तेच्छादयः, विषमानुभवाः, अभिरुचयः अत्र अवतिष्ठन्ते। इदं मनः अन्तर्लीनं गभीरं भवति, अस्य प्रभावः व्यक्तित्वे व्यवहारे अधिकतया भवति। जनाः स्वीयाम् अतृप्तकामनाम् इच्छां वा प्रकारान्तरेण पूरयितुं स्वापत्ये, शिष्ये वा चेष्टन्ते।

मनोविश्लेषणसिद्धान्तस्य जनक प्रसिद्धः मनोवैज्ञानिकः सिग्मन्ड फ्रायड् महोदयः मनुष्ये विद्यमानानां भावानां त्रिधा मतित्वेन विभागमकार्षीत् ताश्च इद् मतिः, अहंमतिः, परा अहंमतिः इति।

इद् मतिः Id - अत्र लौकिकसामाजिकनियमानां नैतिकतायाः अभावो भवति। हिंसा, कामेच्छा, पाशविकप्रवृत्तीनाम् उद्रेको विद्यते,विषयवासनापूर्त्यर्थम्, ऐन्द्रिकसुखेच्छया जनः लौकिकनैतिकनियमान् उज्झित्वा कामकारतः प्रवर्तते। अत्रत्या मतिः सुखसिद्धान्त-माश्रित्य कार्यं करोति। एषा मतिः सदसद्विवेकहीना पाशविकी भवति।

अहंमतिः Ego - एषा मतिः यथार्थपरिस्थितिं परिगणय्य कार्यं करोति, इद् मतौ उत्पद्यमानानां भावानाम् अनैतिकेच्छानाम् असामाजिकभावानां संयमनमत्र विधीयते। सामाजिकनैतिकनियमान् परिपालयन् कामेच्छानां पूर्त्यर्थं चेष्टते जनः। सद्असद्विवेकपुरस्सरम् अवसरं विचिन्त्य कामेच्छानां पूर्तिं करोति। एषा मतिः यथार्थसमाजिकव्यक्तित्वं विकासयति।

परा अहंमतिः Super Ego - मतिरेषा अत्यन्तम् आदर्शे विश्वसिति, आदर्श-सिद्धान्तमाश्रित्य (Ideal Principle) प्रवर्तते। कामेच्छानां दमनं विधाय वासनासुखापेक्षया नैतिकनियमानामनुपालनं श्रेयः मनुते। सदसद् विवेकः, नैतिकनियमाः आदर्शाः सदाचारः अस्याः प्रमुखलक्ष्यं भवति। एताः इतरेतरसहायेन समन्वयेन व्यक्तित्वस्य संघटनं, विकासञ्च सम्पादयन्ति इति।

4. आवश्यकतासिद्धान्तः (Need Theory) - अब्राहम माउस्लो महोदयः इमं सिद्धान्तं प्रतिपादितवान्। प्रत्येकं जीवस्य पंचतयी आवश्यकता भवति। अस्याः पूर्त्यर्थम् बाह्यं संपीडनं सहमानः समायोजनं करोति। तेन अस्य व्यक्तित्वमाविर्भवति। जीवः स्वस्य अस्तित्वाय जीवनाय यस्य कस्यापि वस्तुनः आवश्यकतामनुभवति तत्प्राप्त्यर्थं चेष्टते अर्थात् सक्रियो भवति। आवश्यकताः पञ्चधा विभक्ताः तासां क्रमः प्रधानोपसर्जनत्वक्रमेण कल्पितः। तद्यथा-

१) शारीरिकावश्यकताः **२) सुरक्षायाःआवश्यकताः**

३) आत्मीयतायाः स्नेहस्य आवश्यकताः **४) आत्मसम्मानावश्यकताः**

५) आत्मसाक्षात्कारः

आसां पूर्त्यर्थम् बाह्यसंपीडनं सहमानः समायोजनं करोति। तेन अस्य व्यक्तित्व-माविर्भवति।

भारते प्राचीनसंस्कृतशास्त्रेषु व्यक्तित्वचिन्तनम् -

प्राचीनशास्त्रेषु व्यक्तित्वचिन्तनं दृश्यते तद्यथा - आयुर्वेदशास्त्रे वातपित्तकफाधारेण मनुष्याणां प्रकृतिभेदाः कल्पिताः वातप्रधानपुरुषस्य व्यवहारे, स्वभावे, शारीरिकस्थितौ विशिष्टाः गुणाः परिलक्ष्यन्ते तथा च पित्तप्रकृतीनां मनुष्याणां स्वभावः, व्यवहारः, गुणाश्च अन्यप्रकृतिभ्यः भिद्यन्ते। एवमेव कफप्रकृतीनां मनुष्याः अन्येभ्यः प्रकृतिभ्यः विशिष्टाः भवन्ति। सुश्रुतसंहितायां वातपित्तकफप्रकृतिमेवमाह आचार्य सुश्रुतः -

वातप्रकृतिः -

य प्रजारूकः शीतद्वेषी, दुर्भगः, स्तेनो मत्सरी, अनार्यो गन्धर्वाश्रितः स्फुटित-करचरणोऽल्परूक्षश्मश्रुनखकेशः क्रोधी दन्तनखखादी च भवति।

अधृतिरदृढसौहृदः कृतघ्नः कृशपरूषोधमनीततः प्रलापी
द्रुतगतिरटनोऽनवस्थितात्मा वियति च गच्छति सम्भ्रमेण सुप्तः।
अव्यवस्थितमतिश्चलदृष्टिर्मन्दरत्नधनसंचयमित्रः
किंचिदेव विलपत्यनिबध्दं मारुतप्रकृतिरेषमनुष्यः[1]॥

पित्तप्रकृतिः -

स्वेदनोदुर्गन्धः पीतशिथिलाङ्गस्ताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलो दुर्भगो वलिपलितखलित्यजुष्टो बहुभ्रुगुष्णद्वेषी क्षिप्रप्रकोपप्रसादो मध्यमबलो मध्यमायुश्च।

मेधावी निपुणमतिर्विगृह्य वक्ता,
तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः।
सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान्,
सम्पश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः[2]॥

कफप्रकृतिः -

दूर्वेन्दीवर निस्त्रिंशार्द्रारिष्टकशरकाण्डानामन्यतमवर्णः सुभगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो बलवांश्चिरग्राही दृढवैरश्च भवति।

---

1. सुश्रुतसंहिता शरीरस्थानम् अध्याय 4- 64-66
2. सुश्रुतसंहिता शरीरस्थानम् अध्याय 4- 68-70

शुक्लाक्ष स्थिरकुटिलालिनीलकेशो लक्ष्मीवान् जलदमृद्घासिंहघोषः,
सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान् संपश्येदपिच जलाशयान् मनोज्ञान्।
रक्तान्तनेत्रः सविभक्तगात्रः स्निग्धछविः सत्वगुणोपपन्नः,
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां ज्ञेयो बलास प्रकृतिर्मनुष्यः।
दृढशास्त्रमतिः स्थिरमित्रधनः, परिगण्यचिरात् प्रददातिबहु।
परिनिश्चित वाक्यपदः सततं, गुरुमानकरश्च भवेत् स सदा[1]॥

मानवस्वभावोऽपि व्यक्तित्वस्य अत्यन्तं महत्वपूर्णम् अनिवार्यम् अङ्गं भवति। उपनिषत्सु गीतायां च अयमेव स्वभावः त्रिधा विभज्य मानवव्यक्तित्वेन अभिवर्णितः तद्यथा –

सात्विकव्यक्तित्वम् –

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्याः आहाराः सात्विकप्रियाः[2]॥

आयुःबलस्वास्थ्यप्रदायकाः, सुखकराः, प्रीतिवर्धकाः, घृतादिस्नेहपूर्णाः हृद्याः आहाराः सात्विकजनेभ्यः रोचन्ते।

राजसव्यक्तित्वम् –

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामययप्रदाः[3]॥

कटुतीक्ष्णरूक्षाहाराः, अत्युष्णाम्ललवणयुताः दुःखशोकरोगकारकाः आहाराः राजसानां प्रियाः भवन्ति।

तामसव्यक्तित्वम् –

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्[4]॥

रसविहीनं दुर्गन्धयुतं नीरसं उच्छिष्टम् अशुचि भोजनं तामसजनेभ्यः रोचन्ते।

किं च भगवद् गीतायां मानवप्रकृतेः अपरः विभागश्च दर्शितः स च दैवस्वभावः, आसुरस्वभावः इति अयमेव देवासुरसम्पदविभागेन गीतायां निर्दिष्टः।

---

1. सुश्रुतसंहिता शरीरस्थानम् अध्याय 4-72-75
2. गीता 17-8
3. गीता 17-9
4. गीता 17-10

सत्वरजस्तमसां सत्वाधिक्यात् रजस्तमसो अभिभवात् दैवी प्रकृतिः प्रकटीभवति। दैवीप्रकृतिजनाः शुभगुणसम्पन्नाः भवन्ति। आसुरीप्रकृतिजनानां घोराणि गर्ह्यकर्माणि भवन्ति।

दैवीप्रकृतिः –

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्वलोलुपत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमाः धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत[1]**॥**

अभयं – भयराहित्यम्, सत्त्वसंशुद्धिः – सत्वस्य संशुद्धिः, ज्ञानयोगव्यवस्थितिः– ज्ञानयोगे संस्थितिः,

दानं – स्वीयस्वत्वत्यागः, दमः – इन्द्रियसंयमनम्, यज्ञः – यागानुष्ठानम्, स्वाध्यायः – शास्त्राणामध्ययनम्, आर्जवम् – ऋजुता, अहिंसा – हिंसायाः अभावः, सत्यम् – मनोवाक्कायैः सत्यवर्तनम्, अक्रोधः – क्रोधस्याभावः, त्यागः – अर्पणम्, शान्तिः, अपैशुनम् – दाक्षिण्यम्, दयाभूतेषु – जातेषु प्राणिषु दयाभावः, लोलुप्त्वम् – लोभराहित्यम्, मार्दवम् – मृदुता, ह्रीः – लज्जा, चापलम् – चाञ्चल्यम्, तेजः – क्षमाः – सहनशीलता, धृतिः – धैर्यम्, शौचम् – शुद्धिः, द्रोहः – अभिद्रोहः, नातिमानिता – विनम्रता इत्यादयः गुणाः दैवीसम्पद् भवति

आसुरीप्रकृतिः –

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारूष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ! सम्पदमासुरीम्॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
अशौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रता[2]**॥**

---

1. गीता 16–1–3
2. गीता 16–4,7–10

योगदर्शने व्यक्तित्वविचारः-

षट्सु दर्शनेषु अन्यतमं योगदर्शनम् अस्य प्रणेता ऋषिपतंजलिः अस्य दर्शनस्य प्रामाणिकं भाष्यं व्यासभाष्यमिति अभिधीयते। अत्र चत्वारः पादाः सन्ति। 195 सूत्राणि सन्ति।

योगः इत्यस्य तात्पर्यं भवति समाधिः तथा च भाष्यम्- योगः समाधिः स च सार्वभौमचित्तस्य धर्मः[1]।

चित्तस्तराः चित्तभूमयो वा पञ्च सन्ति, तथा च भाष्यम्- "क्षिप्तं, मूढं, विक्षिप्तम्, एकाग्रं, निरुद्धमिति चित्तभूमयः।[2]"

क्षिप्तम् - यदा चित्तमत्यन्तमस्थिरं भवति। चित्तवृत्तयः विकेन्द्रिता विकीर्णाः च भवन्ति। तच्चितं क्षिप्तमित्युच्यते।

मूढम् - मूढं चित्तं मोहात्मकं किंकर्तव्यविमूढं भवति। लौकिकविषयेष्वत्यन्तं संसक्तं भवति। यत्र सदसद्विवेको न भवति।

विक्षिप्तम् - अत्र चित्तस्य चञ्चलत्वं क्षीणं भवति। विक्षेपापचयो भवति। चित्तं कदाचित् शान्तं भवति। एकाग्राभिमुखं भवति। पुनरपि विक्षिप्ते चेतसि सम्पद्यमानः समाधिः योगो न भवति।

एकाग्रचित्तम् - सद्भूतमर्थं प्रकाशयति, क्लेशान् क्षिणोति। कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधाभिमुखं करोति। एतस्मिन् चित्ते जायमानः समाधिः सम्प्रज्ञातः योगः इत्युच्यते।

निरुद्धचित्तम् - सर्वासां वृतीनां निरोधे सति असम्प्रज्ञातः समाधिः भवति। अत्र नहि काचित् वृत्तिः जागर्ति। सर्वा वृत्तयः प्रलीना भवन्ति।

एकाग्रे चेतसि निरुद्धचेतसि च जायमानः समाधिरेव योग इत्युच्यते। अत्र एकाग्रचित्तं निरुद्धचितं योगपक्षे विद्यते।

योगशास्त्रे स्थितिद्वयं वर्णितम्। समाधिस्थितिः व्युत्थानस्थितिः इति। व्युत्थानस्थितौ चित्तं क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तं वा भवति। समाधिस्थितौ एकाग्रं निरुद्धचित्तं वा भवति।

---

1. योगदर्शनव्यासभाष्य 1-1
2. योगदर्शनव्यासभाष्य 1-1

स्थितिः

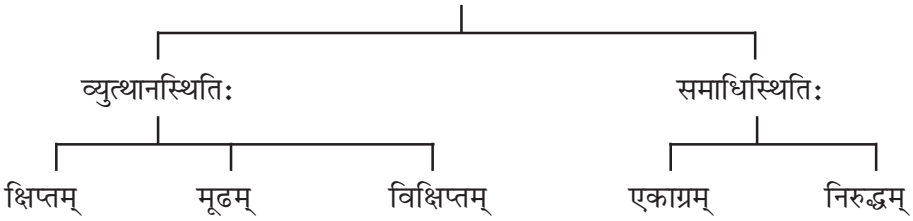

भाष्ये त्रिगुणात्मकं चित्तमुक्तत्वात् सत्वरजस्तमोगुणात्मकं क्षिप्रपरिणामि चलं च चित्तं भवति।

गुणाधिकाराणां अभिभवात् उपचयात् चित्तं भिन्नं भिन्नं व्यवहरति। चित्तं वृत्तिरूपं भवति अथवा चेतसि वृत्तयः अथवा वृत्तीनां प्रवाहः जायते। एता पंचधा चित्तवृत्तयः सन्ति प्रमाणविपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतयः[1] एताः पुनः क्लिष्टाक्लिष्टाभेदेन[2] द्विधा विभज्यन्ते एताः सर्वाः वृत्तयः सुखदुःख मोहात्मिकाः अतः समाधौ एताः निरोधव्येति।

चित्तस्य वृत्तयः

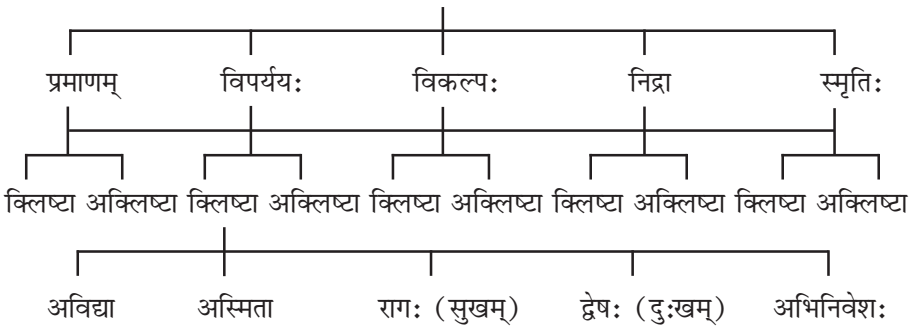

क्लेशानां संस्काराः चेतसि प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराः[3] भवन्ति।

प्रसुप्तः – दग्धबीजानामप्ररोहः।

तनुः – प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवोभवन्ति।

विछिन्नः – स्वल्पप्रतिबन्धः एकस्मिन् लब्धवृत्तिः रागः अन्यत्र भविष्यद्वृत्ति इति एकस्यां स्त्रियां रक्तः चेत् अन्यत्र विरक्त इति न मन्तव्यम् अत्र लब्धवृत्तिः अन्यत्र भविष्यद्वृत्तिः।

उदारः – विषये विषये लब्धवृत्तिः उदार इत्यर्थः।

---

1. योगदर्शन 1-6
2. योगदर्शन 1-5
3. योगदर्शन 2-4

यतः चित्तवृत्तिनिरोधे द्रष्टा आत्मा स्वस्वरूपे तिष्ठति तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्[1]। इति यदा व्युत्थानस्थितिः भवति समाधिभिन्नात्मा, तदा वृत्तिसारूप्यमितरत्र[2] समाधिरभिन्नावस्थायां वृत्तिरूपम् आत्मा आत्मानं मनुते।

योगशास्त्रम् मुख्यत्वेन मनसः धर्मान् अधिकृत्य प्रवर्तते अतः अत्र मनुजस्य योऽयं स्वभावः प्रवृत्तिः, चेतसि विद्यमानाः गुणाः वासना, संस्काराः इत्येतान् अधिकृत्य व्यक्तित्वं वर्णयितुं शक्यते। अत्र शारीरिकाकारस्य स्वरूपस्य प्रसङ्गो नोदेति। तस्य अविषयत्वात्। वस्तुतः चित्तं प्रकृतेः सत्वरजस्तमोभ्यः समुत्पन्नम् अतः त्रिगुणमिति उच्यते। एतत् सत्वप्रधानं पुनरपि रजस्तमोभ्यां संसृष्टं भवति अतः सत्त्वरजस्तमोगुणानां प्रभावः चेतसि परिलक्ष्यते। यथा चेतसः स्वभावः भवति तथा मनुष्यो व्यवहरति तथा च तस्य स्वभावः व्यक्तित्वम् इति अभिधीयते।

त्रिगुणानां संघातं चित्तम् अतः कारणगुणानुपूर्विक्रिया इति सत्त्वरजस्तमसां गुणानुसारं चित्तस्य परिणामः व्यवहारो वा जायते, अतः योगदर्शने योगशास्त्रे वा चित्तस्य सत्वगुणाधिक्यात् सात्विकम् व्यक्तित्वं रजोगुणाधिक्यात् राजसम्, तमोगुणाधिक्यात् तामसम् तच्च गीतायामपि विस्तरेण विजृम्भितम्।

योगशास्त्रे चित्तं हि किं स्वरूपम् इति वर्णयन् भाष्यकारो व्यास आह "चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्"[3]। "प्रकाशशीलं सत्त्वम्, क्रियाशीलं रजः, स्थितिशीलं तमः"। प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणाः परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा सत्त्वस्य शान्तं, रजसः घोरं, तमसः मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते[4] चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम्। प्रख्यारूपं हि चित्तसत्वम्[5] इति उक्तत्वात् चित्तं सत्वगुणप्रधानम्।

अर्थात् प्रख्या प्रकाशस्वभावाः प्रकाशाधिकाः सर्वे बोधाः सा सत्त्वगुणस्य लिङ्गम्। प्रवृत्तिः इच्छादयः सर्वाश्चेष्टाः सा च क्रियाशीलस्य रजसो लिङ्गम्, स्थितिः आवृत्तस्वरूपाः सर्वे संस्काराः सा हि स्थितिशीलस्य तमसः स्वालक्षणम्। एतेषां त्रिविधगुणधर्माणां लाभाच्चित्तं त्रिगुणम्। प्रख्यारूपेण सत्त्वगुणाधिक्येन परिणतं चित्तं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं[6] भवति। सत्त्वप्राधान्यं चित्तं यदा रजस्तमोभ्यां संसृष्टं विक्षेपमोहबहुलं भवति तादृशं चित्तम् ऐश्वर्य विषयप्रियं भवति। एवं भूतचित्त-युतस्यजनस्य व्यक्तित्वं लौकिकैश्वर्याभिलाषि, लौकिकविषयमोहयुतं भवति। सर्वत्र

---

1. योगदर्शन 1-3
2. योगदर्शन 1-4
3. योगदर्शनव्यासभाष्य 1-2
4. योगदर्शनव्यासभाष्य
5. योगदर्शनव्यासभाष्य 1-2
6. योगदर्शनव्यासभाष्य 1-2

स्वीयम् आधिपत्यं कामयते एतादृशः जनः। एवं चित्तयुतजनस्य लौकिकविषयाः शब्दस्पर्शरसगन्धरूपादयः प्रियाः भवन्ति तदर्थं यतते तत्र प्रभुत्व निमित्तं अधिकारसम्पादनाय चेष्टते। अस्यार्थः चित्ते सत्त्वात् किंचिदूने रजस्तमसी यदा मिथः समे च भवतः तदा विषयाः शब्दादयः प्रियाः भवन्ति। प्रख्यारूपं चित्तसत्त्वं स्वोपसर्जनभूताभ्यां सत्वम्+रजस्तमसी = क्षिप्तं चित्तम्। रजसा विषयेष्वेववृत्तिमत् क्षिप्तं। रजस्तमोभ्यां संसर्गेण क्षिप्तावस्थायां भवति। क्षिप्तचित्तभूमियुतः जनः क्षिप्तचेतसि ऐश्वर्यविषयप्रियः भवति।

यदा चित्तसत्त्वं तमसानुविद्धं तमसा निद्रादिवृत्तिमत् मूढं चित्तं भवति तद् अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपग[1] भवति। चित्तसत्त्वं तामसकर्म संस्काराभिभूतं अथवा यदा तमो रजो विजित्य प्रसृतं भवति तदा चित्तसत्त्वावरकतमसः निवारणेऽसमर्थत्वात् रजसः तमःस्थगितं चितम् अधर्मम्, अज्ञानम्, वैराग्यम्, अनैश्वर्यम् उपगतं भवति। एवंभूतचित्तयुतजनस्य अधर्मविषयः, अज्ञानविषयः, अवैराग्यविषयः, अनैश्वर्यविषयाः प्रियाः भवन्ति। एवंभूतचित्तयुतस्यजनस्य व्यक्तित्वम् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्यादि विषयेषु भवति। अयं जनः अत्रैव रमते। अनेन मूढं चित्तं दर्शितम् यस्य कस्यापि जनस्य चित्तं मूढं भवति तदा तस्य व्यक्तित्वं एवं गुणविशिष्टं भवति। मूढचित्तभूमियुतः जनः अधर्मे, अज्ञाने, अवैराग्ये, अनैश्वर्ये रमते। तदा तस्य व्यक्तित्वम् अधार्मिकः, अज्ञानी, अवैराग्यवान्, अनैश्वर्यवान् भवति।

यदा चित्तं प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञान-वैराग्यैश्वर्योपगं भवति[2]। चित्तसत्वं रजोमात्रया संसक्तं चित्तं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगतं भवति। यदा चित्ते सत्वाधिक्यात् तमसः तिरोभावात् क्षीणरजसः भावः भवति तदा चित्तं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगतं भवति एवंगुण विशिष्टं चित्तं यस्मिन् मनुजे भवति तस्य रतिः धर्मे, ज्ञाने, वैराग्ये, ऐश्वर्ये च भवति। एवंभूतं चित्तं विक्षिप्तचित्तं भवति। यस्य विक्षेपोपसर्जनीभूतं विक्षिप्तचितं चित्तं भवति तस्य व्यक्तित्वमपि धार्मिकः ज्ञानी वैराग्यवान् ऐश्वर्यवान् भवति।

समाहितचित्तम् – एकाग्रचित्तं निरुद्धचित्तं वा समाहितचित्तमुच्यते। समाहितचित्तं समाधियोग्यं भवति, तस्यैव प्रज्ञाविवेक उपावर्तते। येन यथार्थं वस्तु जानाति। तद् अभ्यासात्तद् विषयाच्च वैराग्याद् असंप्रज्ञातसमाधिः भवति। एकाग्रे चेतसि यदा तमसः गुणाधिकारः प्रसुप्तः भवति रजसः मलस्यापगमनं भवति तदानीं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति[3] (इदं चित्तं एकाग्रचित्तं भवति यत्र चित्तस्य स्वस्वरूपेस्थितिर्भवति। एवंभूतं चित्तं धर्ममेघध्यानं उपगतं भवति। अत्र जायमानं

---

1. योगदर्शनव्यासभाष्य 1-2
2. योगदर्शनव्यासभाष्य 1-2
3. योगदर्शनव्यासभाष्य 1-2

ज्ञानं परं ज्ञानं प्रसंख्यानमिति आमनन्ति ज्ञानिनः। एवं जातीयकचित्तविशिष्टजनस्य व्यक्तित्वम् तत्त्वज्ञानीयुतं, परमवैराग्ययुतं शान्तं भवति स च एवं मनुते प्राप्तं प्रापणीयं क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमो यस्याविच्छेदात् जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत[1]। अपि च अशुध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्। यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यं इदं जायते, तदा योगिनो भवति अध्यात्मप्रसादः तदानीं योगिनः व्यक्तित्वमेवंभूतं भवति।

प्रज्ञाप्रासादमारूह्य अशोच्यः शोचतोजनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति[2]॥

अपि च

शय्यासनस्थोऽथ पथिव्रजन् वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी[3]॥

किञ्च यदा चित्तं समापन्नं (समाहितं) भवति तदा निस्तरङ्गमहोदधिकत्वं शान्तमनन्तमस्मितामात्र[4] भवति।

यत्रेदमुक्तम् –

तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते[5] एवं समाधिसिधस्य योगिनः चित्तं तदाकारतामापन्नं तस्य व्यक्तित्वं भवति।

उक्तञ्च गीतायाम् –

सुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः।
व्रीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते[6]॥

निष्कर्षाः –

1. योगशास्त्रम् चित्तवृत्तीनां स्वरूपं धर्मान् अपि च तासां निरोधमधिकृत्य प्रवर्तते। अत्र मनसः नाना भूमयः स्ताराः सन्ति मनसि प्रवहमानानां विचाराणां मनसि विद्यमानानां संस्काराणां तद्गुणविशिष्टं व्यक्तित्वं भवितुमर्हति।

---

1. योगदर्शनव्यासभाष्य 1–16
2. योगदर्शनव्यासभाष्य 1–47
3. योगदर्शनव्यासभाष्य 2–3
4. योगदर्शनव्यासभाष्य 1–36
5. योगदर्शनव्यासभाष्य 1–36
6. गीता 2–56

2. चित्तं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकं त्रिगुणम् किञ्च क्षिप्रपरिणामि चलञ्च अतः ततः तत्प्रभावेण मनोवाक्कायैः जायमानक्रियाकलापैः मनुजस्य व्यक्तित्वमभिव्यज्यते।

3. सत्त्वप्रधानाद् सात्विकम्, रजसः प्रभावाद् राजसम्, तमसः प्रभावाद् तामसं तद्गुणविशिष्टं व्यक्तित्वं प्रकटीभवति।

4. चित्तं क्षिप्रपरिणामि चलं च भवति अतः चित्तावलम्बनं व्यक्तित्वमपि स्थिरं भवितुं नार्हति।

5. चित्तस्य प्रमुखा पञ्चभूमयः सन्ति व्युत्थानचित्ते क्षिप्तभूमिः, मूढभूमिः विक्षिप्तभूमिः इति तिस्र भूमयः सन्ति तद् तद्भूमियुत्तं चित्तस्थव्यक्तित्वं तस्य मनुष्यस्य व्यक्तित्वं भवितुमर्हति।

6. समाहितचित्तयुतः योगी कथमनुभवति कथमात्मानं मनुते किं गुणविशिष्टं तस्य व्यक्तित्वं भवति। तद् एवं भवति

शय्यासनस्थोऽथ पथिव्रजन् वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी[1]॥

अपि च

प्रज्ञाप्रसादमारूह्य अशोचः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठामिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति[2]॥

सात्विकं व्यक्तित्वम् – यत्र व्यक्तिः ज्ञानी, शान्तः, निर्भयः, धार्मिकः सौम्यस्वभावः भवति। सात्त्विकव्यक्तित्वे सारल्यमार्जवम्, कर्त्तव्यनिष्ठा, ज्ञानम्, तपः, श्रद्धाः, सत्यम्, निःस्पृहा, सर्वप्राणिनामुपकारकत्वं चेत्यन्तर्भाव्यते।

राजसव्यक्तित्वम् – यत्र व्यक्तिः पराक्रमी, वीरः दुर्धर्षः साकाङ्क्षी, आसन्तिमान् च भवति। राजसव्यक्तित्वे हि खल्वात्मप्रदर्शनम्, दम्भः, सामाजिकराजनीतिकयशोलिप्सा, क्रियानुरागः, वित्तैषणाप्राचुर्यम्, उत्तेजकपदार्थानां विषयाणाञ्च सेवनम्, स्वार्थे सर्वसमारम्भोपक्रम इत्यादयो विशेषा अनुप्रविशन्ति।

तामसव्यक्तित्वम् – एवं भूतजनेषु तमो बहुलता भवति। एते अलसाः, प्रमादिनः, क्रोधिनः, कोपनाः, अहेतुकलहकारिणः भवन्ति। तामसव्यक्तित्वे हि दीर्घसूत्रत्वम्, आलस्यम्, वर्जितद्रव्यसेवनम्, शुद्धाशुद्धधर्माधर्मविवेकशून्यमाचरणम्, पैशुन्यम्, अशौचमित्यादिदुर्गुणानामन्तर्भाव इष्यते।

---

1. योगदर्शनव्यासभाष्य 2-3
2. योगदर्शनव्यासभाष्य 1-47

समाहितयोगिव्यक्तित्वम् – रागद्वेषशून्यः, हेयोपादेयशून्यः, शुचिः, तपस्वी, परोपकारी, करुणापरः, वैराग्यवान्, ज्ञानी, इन्द्रियजयः, शान्तः, प्रसन्नः, स्थितप्रज्ञः, सात्विकभोजी भवति।

सन्दर्भग्रन्थाः –

1. उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान, एस.पी. गुप्ता, शारदापुस्तकभवन, इलाहाबाद–2004
2. शिक्षायाः मनोवैज्ञानिकाधाराः, डॉ. बी. पद्ममित्रश्रीनिवासः, जगदीशसंस्कृत–पुस्तकालय, जयपुर– 2012
3. अर्वाचीनं मनोविज्ञानम्, ले मामराजदत्तकपिला, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी– 2002
4. शिक्षामनोविज्ञानम्, पि. नागमुनिरेड्डी, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ, तिरुपति– 2008।
5. सांख्ययोगदर्शनम्, गोस्वामीदामोदरशास्त्री, चौखम्बासंस्कृतसंस्थान, वाराणसी– 1990
6. पातञ्जल योगदर्शनम् भाष्यं, पं. राजवीर शास्त्री, आर्षसाहित्यप्रचारट्रस्ट, दिल्ली– 1996
7. मनोविज्ञानमीमांसा, आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली– 1959
8. प्राचीनभारतीयमनोविज्ञानम्, दिनेशचन्द्र भट्टाचार्यः, कलकत्ता, 1972

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (171-178) January-June 2019 ISSN 2277-4351

वैदिकवाङ्मये दार्शनिकतत्त्वानां समीक्षणम्

-डॉ. शक्तिशरणः

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नवदेहली

विषयप्रवेशः- वेदाः भारतीयज्ञाननिधिरूपेण राराजन्ते। वेदशब्दस्य अर्थतत्त्वेन सर्वेऽपि सुपरिचिताः, वैदिकवाङ्मयेनाऽपि परिचिता एव एवञ्च दार्शनिका अपि दर्शनशास्त्रं सम्यग्रूपेण परिचिन्वन्ति। भगवतिभारत्या उच्छ्वासभूताः वेदाः संस्कृतजगतः पितरौ नात्र प्रमाणस्यावश्यकता यतः संस्कृतस्य आदिग्रन्थरूपेण सकलशास्त्राणां बीजः ऋग्वेदः एव विद्वद्भिः अङ्गीकृतः। अतः वेदे सर्वमपि ज्ञानं प्रतिष्ठितम्। वेदस्य एव शाख-प्रतिशाखतया उत्तरोत्तरं शास्त्राणि विरचितानि। अतः दर्शनशास्त्रमपि वेदस्याङ्गतया वैदिकगभीरार्थोपस्थापनार्थं ऋषिभिः विरचितम्। वेदेषु बहुत्र दार्शनिकतत्त्वानां निदर्शनं भवति।

भूमिका- वेदाः धर्म-दर्शन-संस्कृति-सभ्यतायाश्च आदिस्रोतरूपेण विलसन्ति। भौतिकाध्यात्मवादयोः समन्वयो हि वेदानां वैशिष्ट्यं वरीवर्त्ति। दर्शनशास्त्रस्य प्रारम्भिकं सोपानं भवति जिज्ञासा। जिज्ञासा ज्ञानस्य अभ्युत्थानाय परमावश्यकी भवति सा च जिज्ञासा किं रूपा इत्यपि वक्तुं शक्यते। वैदिकऋषिभिः अनेकेषु मन्त्रेषु विविधविषयिणी जिज्ञासा प्रकटिता। सा हि जिज्ञासा दर्शनशास्त्रस्य बीजत्वं प्रतिपादयति। वेदस्य पौरुषेयापौरुषेयप्रसङ्गे यद्यपि दार्शनिकानां मतवैभिन्यं स्यात् तथाऽपि तस्य मूलं तु वेदा एव। अतः तत्तत्त्वानां वेदेषु मूलत्वं सप्रमाणैः प्रयतते।

विषयः- भौतिकजगतः जीवानामुपकारिणी वेदराशिः गभीरतथ्यपरिप्लावितां विद्यावतां मनसि प्रतिपदं नवीनं ज्ञानं जनयति। ज्ञानस्यापि कारणादयः भवन्ति। तेषां सम्यक् परिस्फुरणं तथ्यभरितं प्रतिपादनं दर्शनशास्त्रमाकलयति। ज्ञानस्य कारणभूता किं रूपा या जिज्ञासा पूर्वं प्रकटिता सा शास्त्रप्रतिपादकपदकृत्यमिति शब्देनाऽपि प्रकटयितुं शक्यते। जिज्ञासायाः यजुर्वेदे एवं निदर्शनं भवति-

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथाऽऽसीत्[1]।

1. यजुर्वेद 17.18

अस्मिन् मन्त्रे विश्वाधिष्ठनम् एवञ्च अस्य कर्तृविषये प्रश्नः कृतः। स च प्रश्नः जिज्ञासारूपेण एव वर्तते। ऋग्वेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे नासदीयसूक्तस्य ऋषिणा प्रश्नः उपस्थापितः कः वेत्ति कश्च विज्ञापयिष्यति यत् कुतः सृष्टिः समागता–

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः[1]**।**

संशयात्मकज्ञानस्य प्रकटनमपि अनेन ऋग्वेदस्य सृष्ट्यध्यक्षस्य सृष्टेः उत्पत्यादि-ज्ञानविषये संशयः प्रकटितः–

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद[2]**।**

जगतः आधारपरिज्ञानविषयिणी जिज्ञासा यथा–

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमा सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः[3]**॥**

वेदान्तस्य परमतत्वमपि ऋग्वेदस्य दशममण्डलस्य पुरुषसूक्तस्य अनेन मन्त्रेण साम्यं प्रतिपादयति–

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभाव्यम्[4]**।**

अन्यमपि वैदिकोपासकेन उक्तं "यस्मान्न जातः परो अन्योस्ति" तत्परः तदधिकं च किमपि नास्ति। पुरुषसूक्तस्य उक्तमन्त्रे वर्णितं वर्तते यत् यदासीदस्ति भविष्यति च तत् सर्वं पुरुषः एव वर्तते। एषः सिद्धान्तः वेदान्तिनां "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यस्य मूलतत्वं परिचिनोति। एकस्य हि परमतत्वस्य विविधनाम्ना सङ्कीर्तनं सङ्कीर्त्यते–

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः[5]**॥**
यो देवानां नामधा एक एव[6]**।**

---

1. ऋग्वेद 10.129.6
2. ऋग्वेद 10.129.7
3. अथर्ववेदः 10.7.12
4. ऋग्वेदः 10.10
5. ऋग्वेदः 1.64.46
6. ऋग्वेदः 10.82.3

यास्काचार्येणापि असावेव सिद्धान्तः प्रकटितः-

महाभाग्याद् देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनो अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति[1]॥

सर्वज्ञानमयवेदस्य प्रतिष्ठापनममुना विविधप्रकारेण प्रकटितम्-

सर्वज्ञानमयो हि सः[2]

अन्यच्च-

धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः[3]।

सायणेनाऽपि वेदस्य परमप्रामाण्यमङ्गीकृतम्-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता[4]॥

न्यायदर्शनेन आप्तवत् वेदस्य प्रमाण्यं असन्दिग्धं घोषितम्-

मन्त्रायुर्वेद प्रमाण्याच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रमाणत्वात्[5]।

वैशेषिकदर्शनं वेदवाक्यानां रचनां बुद्धिपूर्वकमुद्घोषयति। वैशेषिकदर्शनं वेदस्य प्रामाण्यं स्पष्टरूपेण प्रस्तौति-

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे[6]।

वैदिकञ्च[7]।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वेदलिङ्गाच्च[8]।

सांख्यदर्शनमपि वेदानामपौरुषेयत्वम् एवञ्च परमात्मशक्त्या वेदानामभिव्यक्तिः प्रकटिता वेदानां स्वतः प्रामाण्यञ्च प्रकाशितम्-

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्[9]।

---

1. निरुक्त 7.4.8.9
2. मनु. 2.7
3. मनु. 2.13
4. सायणाचार्यः, तै.सं. भाष्योपक्रमणिका
5. न्या.सू. 1.2.67
6 वै.सू. 6.1.1
7. वै.सू. 5.2.10
8. वै.सू. 4.2.11
9. सां.सू. 5.51

योगदर्शने ईश्वरः कालेनानवच्छेदात् अनादिः आदिगुरुश्च कथितः। ईश्वरः वेदप्रकाशकरूपेण प्रकटितः। शब्दार्थयोः सम्बन्धः नित्यसम्बन्धः इति वैदिकीमान्यता-प्रतिपादिता-

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्[1]।

मीमांसादर्शनाभिमतं वैदिकशब्दाधारेण जगतः पदार्थरचना भवति। अतः शब्दानाम् अर्थैः सह औत्पत्तिकसम्बन्धः वर्तते यस्मात् वेदस्य स्वतः प्रामाण्यं सिद्ध्यति-

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः[2]।

वेदान्तदर्शनाभिमतं ब्रह्मैव सर्वशास्त्राणामुत्पत्तिस्थानम् अतः वेदः नित्यः, अस्य स्वतः प्रामाण्यमपि वर्तते-

शास्त्रयोनित्वात्[3]।

अतः प्रभवात्[4]।

अत एव च नित्यत्वम्[5]।

उक्तराद्धान्तैः सुस्पष्टं भवति वेदस्य आस्तिकदर्शनानां मूलत्वम् अथ च तस्य परमप्रामाण्यमपि परिलक्ष्यते। न्यायदर्शनस्य प्रमुखप्रतिपाद्यविषयः प्रमाणविचारः वर्तते। तस्मिन् पर्याये "प्रमाणप्रमेयप्रयोजनसंशयदृष्टान्तसिद्धान्तादिषोडशपदार्थानां"[6] निरूपणं वरीवर्ति। वैशेषिके साधर्म्यवैधर्म्येन षड्पदार्थाना[7] विवेचनं विहितम्। वैशेषिकं मूलरूपेण पदार्थविद्या वर्तते। न्यायदर्शनस्य ज्ञानस्य प्राप्तिसाधनानां प्रत्यक्षादिप्रमाणानां तर्कभरितं प्रतिपादनं निर्दिष्टमस्ति-

प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः[8]।

सूक्ष्मविवेचनेन न्यायशास्त्रस्य सिद्धान्तानां मूलस्त्रोतरूपेण वैदिकनिदर्शनमित्थं प्रकारेण वर्तते। तर्कज्ञानस्य मूलं जिज्ञासा एव अतः ऋग्वेदे मानवस्य अनादिजिज्ञासायाः वर्णनं वर्तते यत्र न्यायदर्शनस्य मूलभावना मुखरिता भवति-

---

1. यो.सू. 1.26
2. मी.सू. 1.1.5
3. वे.सू. 1.1.3
4. वे.सू. 1.3.28
5. वे.सू. 1.3.29
6. न्या.सू. 1.1.1
7. वै.सू. 1.1.4
8. न्या.भा. 1.1.1

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन्देवानामेना निहिता पदानि।
अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान्[1]॥

एवमेव अन्येऽपि प्रश्नाः ऋग्वेदे वर्तन्ते–

कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्युस्विदापः।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम्[2]॥

ऋग्वेदस्य दशममण्डले प्रमाशब्दप्रयोगोऽपि अभवत्। तत्र इदमपि उक्तं यत् ज्ञानव्यवधानकारकाणि यदा नाऽयान्ति तदा प्रमायाः उदयो जायते, तदैव तज्ज्ञानं कथनयोग्यं भवति–

यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमाऽसीत् प्रेणा तदेषा निहितागुहावि:[3]।

यजुर्वेदेऽपि प्रमाशब्दस्य प्रयोगः वर्तते–

सहस्त्रस्य प्रमा असि सहस्त्रस्य प्रतिभा अस्ति[4]।

अथर्ववेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे प्रमाशब्दस्य प्रयोगः–

यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्[5]।

ऋग्वेदस्य एकस्मिन् स्थले ऊहस्याऽपि वर्णनं वर्तते। तत्र ऊहनिपुणजनानां विचाराः एव लोके विचरन्ति–

ओह ब्रह्माणो विचरन्युत्वे[6]।

निरुक्ते ऊहस्य निर्वचनं तर्करूपेण विहितम्[7]।

ऋग्वेदे एव अत्यन्तसूक्ष्मदृष्ट्या तर्कविषयकानि अन्यानि तत्त्वानि प्रतिपादितानि सन्ति। ऋग्वेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे मनीषा, वाणी, मति, श्रुतादिमाध्यमेन प्रत्यक्षानुमान-शब्दादिप्रमाणानां संसूचनं ऋषिः इत्थं प्रस्तौति–

इन्द्रावरुणा यदृषिभ्यो मनीषां वाचो मतिं श्रुतमदत्तमग्रे[8]।

---

1. ऋग्वेद 1.164.5-6
2. ऋग्वेद 10.88.18
3. ऋग्वेद 10.71.1
4. यजुर्वेद 15.65
5. अ.वे. 10.7.32
6. ऋ.वे. 10.71.8
7. निरुक्त 13.12
8. ऋ.वे. 8.59.6

ऋग्वेदस्य अन्येष्वपि ऋ. 1.184.2, 8.25.9 एवञ्च 10.67.2 मन्त्रेषु स्पष्टरूपेण श्रवणं, चक्षुभ्यां दर्शनम्, मनसा ध्यानं च सूत्रिमस्ति-

ऋग्वेदे यजुर्वेदे च धीः, धीतिः, मतिः, मेधादिशब्दानां प्रयोगः बुद्धिवर्णनप्रसङ्गे कृतमस्ति यश्च न्यायवैशेषिके ज्ञानपर्यायरूपेणाङ्गीकृतोऽस्ति। अथर्ववेदस्य एकः सूक्तः "अनुमतिसूक्तः" इति नाम्ना लभ्यते। यद्यप्यनुमतिशब्दस्य अनेके अर्थाः भवितुं शक्यन्ते परञ्च निरूक्तकारेण-

अनुमितिरनुमाननात्। तस्या एषा भवति[1]।

इत्युक्त्वा अनुमतिशब्दस्य अर्थः अनुमानरूपेणाऽपि स्फुटितः। वेदे सर्वत्र चेतनजीवः ज्ञातृरूपेण एवञ्च बाह्यवस्तूनि ज्ञेयरूपेण अङ्गीकृतानि सन्ति यच्च न्यायवैशेषिकयोः ज्ञातृज्ञेययोः भेदस्य मूलवत् प्रतिभाति। ऋग्वेदस्य ज्ञानसूक्ते ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञानञ्च पृथक् रूपेण प्रतीयन्ते[2]।

मूलरूपेण वैशेषिकदर्शनं धर्मव्याख्यां ख्याति। सूत्रकारेण एतत् स्पष्टरूपेण प्रकटितं यत् तस्य एषा व्याख्या वेदानुसारिणी वर्तते, अत एव प्रमाणिकी अपि वर्तते।

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्[3]।

ऋग्वेदे अनेकस्थलेषु उपादाननिमित्तकारणयोः विषये जिज्ञासा प्रकटिताऽस्ति[4]।

अस्मिन् एव क्रमे तत्रैव सृष्ट्यधिष्ठानं किमासीत् एवञ्च आरम्भणः किमासीत्-

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथाऽसीत्[5]।

अत्र प्रयुक्तः आरम्भणपदमेव न्यायवैशेषिकयोः आरम्भवादस्य मूलाधारो प्रतिभाति। वैशेषिकदर्शनं कार्यकारणयोः सर्वथा पृथक्त्वं दर्शयति। ऋग्वेदे अस्य सिद्धान्तस्य अपि बीजसङ्केतः लभ्यते-

आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्।
वर्धयन्ती बहुभ्यः प्रैको अब्रवीदृता वदन्तश्चमसाँ अपिशत[6]॥

अस्मिन् मन्त्रे सर्वान् जलाग्निपृथिव्यादिपदार्थान् महत्त्वपूर्णरूपेण प्रतिपादनावसरे ऋषिः ब्रवीति यत् अमी पदार्थाः परस्परं चमस् नाम अवयवीपदार्थानां अवयवान्

---

1. निरुक्तः 11.3.27
2. ऋ.वे. 10.71.5-6
3. वै.सू. 1.1.1-3
4. ऋग्वेदः 10.81.2-4 तथा च 10.168.3
5. ऋ. 10.81.2
6. ऋ. 1.161.9

पृथक्कुर्वन्ति। सायणेन चमसा इत्यस्य अवयविनो, पिंशू इत्यस्य च अवयवे भाष्ये लिखितम्।

मूलतत्त्वव्याख्याप्रसङ्गे वैशेषिकदर्शनं जगतः अन्तिमोपादानकारणरूपेण परमाणु-मङ्गीकरोति। अस्य बीजमपि ऋग्वेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे लभ्यते-

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः[1]॥

परमाणोः सङ्केतः अन्यस्मिन्नपि एकस्मिन् मन्त्रे दृश्यते-

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत[2]॥

ऋग्वेदस्य नासदीयसूक्ते एवञ्च अन्यस्थलेषु प्रयुक्तयोः सदसद्शब्दयोः अर्थविषये यद्यपि विदुषां वैमत्यं प्रतीयते परञ्च न्यायवैशेषिकयोः असत्कार्यवादस्य एवञ्च सांख्यदर्शनस्य सत्कार्यवादस्य बीजरूपेण सदसद्शब्दयोः प्राबल्यं वरीवर्ति।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं ..... [3]।

देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत[4]।

देवानां युगे प्रथमऽसतः सदजायत[5]।

वैशेषिकस्य द्रव्येषु पृथिव्याः प्रथमं ग्रहणं वर्तते। पृथिव्यां गन्धगुणः भवति- "तत्र गन्धवती पृथवी" इति। द्वितीयं द्रव्यं रसद्रव्यं वर्तते, रसगुणयुक्तमिदं भवति। अस्य सिद्धान्तस्य मूलम् अथर्ववेदस्य पृथ्वीसूक्ते पृथिव्याः गन्धरूपेणाख्यानं दृश्यते-

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव[6]।

ऋग्वेदे आपोद्रव्यस्य गुणः रसः कथितः-

यो वः शिवतमो रसः[7]।

एवमेव अन्यद्रव्याणामपि बीजं वेदेषु दृश्यते।

---

1. ऋ.10.81.3
2. ऋ. 10.72.6
3. ऋ. 10.129.1
4. 10.72.2
5. ऋ. 10.72.3
6. अ.वे. 12.1.23
7. ऋ. 10.9.2

योगदर्शनस्य विद्याऽऽविद्यारूपपारिभाषिकशब्दयोः साररूपार्थः यजुर्वेदस्य अस्मिन् मन्त्रे योगदर्शनस्य मूलबीजत्वं लक्ष्यते–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा, विद्ययाऽमृतमश्नुते[1]॥

इत्थमविद्या विद्या च, जिज्ञासा तन्निरोधश्च, जगत् तत्कारणञ्च, पदार्थः पदार्थज्ञानञ्च, द्रव्याणि तेषां गुणाश्च, प्रमाणानि तेषां प्रामाण्यञ्चेत्यादि सर्वेऽपि दार्शनिकविषयाः वैदिकविषया एव प्रतिभान्ति। भारतीयविद्यायाः स्रोतं वैदिकसाहित्यं जलबिन्दुनिपातवत् प्रतिशास्त्रं मूलतत्त्वानि विकिरति। वेदे सर्वमपि ज्ञानं निहितं वर्तते। तदेव गभीरज्ञानं शाखप्रशाखतया उत्तरोत्तरं ऋषिभिः ख्यातम्। वेदस्य दार्शनिकबीजत्वमनेन शोधपत्रेण प्रास्तावि। एवमेव अन्यशास्त्राणामपि तत्त्वानि बीजरूपेण वेदेषु विलसन्ति इति।

✦✦✦

1. यजुर्वेद 40.14

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (179-191) January-June 2019 ISSN 2277-4351

ऋग्वेद-वर्णित-राष्ट्र-समन्वित-भावोद्रेकाः

श्याम सुन्दर शर्मा

शोधच्छात्रः, संस्कृतविभागः,
दिल्ली विश्वविद्यालयः, दिल्ली

1. प्रस्तावना

सकलेऽस्मिन् जगति तले वैज्ञानिकैः पुरातत्त्वविज्ञानवेत्तृभिः शास्त्रकृद्भिः धीमन्मनीषिभिः आराधकैः आलोचकैः समीक्षकैश्च सम्परीक्ष्यैकधिया ऋग्वेदस्य सर्वप्राचीनत्वमुद्घुष्टम्। वैज्ञानिक-आयुर्वैदिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक-दार्शनिक-राष्ट्रिय-चिन्तनमत्राद्वितीयत्वेन समुपलभ्यत्वात् सर्वेषां प्रकृतिः ऋग्वेद एव। एतस्मादेव सर्वे समजायन्त। तथैव प्रोक्तम्-

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः[1]।।

ऋच्यते स्तूयते यया सा ऋक्। एतादृशीनाम् ऋचां समूह एव ऋग्वेदः। यत्र अर्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋगिति मीमांसकाः। स ऋग्वेदः सूक्तमण्डलभेदेन द्विधा विभक्तः। तत्र सूक्तं चतुर्विधम् ऋषिदेवताच्छन्दोऽर्थभेदात्। तत्रैकर्षिदृष्टमन्त्राणां समूह ऋषिसूक्तम्। एकदेवताकमन्त्राणां समूहो देवतासूक्तम्। समानच्छन्दसां गुल्मश्छन्दःसूक्तम्। यावदर्थसमाप्तानां मन्त्राणां समूहोऽर्थसूक्तम्। सुष्ठूक्तत्वात् सूक्तम् इत्याचक्षते।

ऋग्वेदोऽयमखण्डमण्डलाकारस्य परब्रह्मणः सर्वशक्तिमतः परमात्मन अतुलनीयो देदीप्यमानो न्यासो विद्यते। असौ मानवाय अप्रतिमोपहारो वर्तते। वेदोऽयं सर्वजनकल्याणाय साङ्गोपाङ्गसुसज्जीभूय सर्वविधसर्वज्ञानानि[2] वितीर्य वसुन्धरायाम् अवतरितवान्। श्रीकृष्णः गीतायां प्रवदति- "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"[3]। एतादृशं वेदं स्वीकृत्य मनुसन्ततयः धन्यधन्यतां कृतकृत्यताञ्चोपगताः।

---

1. महाभारतम्, शान्तिपर्वः 232.24
2. भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति। (मनु. 12.97)
3. गीता 4/38

वेदस्य ज्ञानाकरविषये आचार्यः सायणः कृष्णयजुर्वेदस्य तैत्तिरीयशाखायाः उपोद्घाते स्वयं प्रोवाच-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

ऋग्वेदोऽयं दशमण्डलेषु, पञ्चाशीत्यनुवाक्षु, अष्टाष्टकेषु, चतुष्षष्ट्यध्यायेषु, षडुत्तरद्विसहस्रवर्गेषु, अष्टाविंशोत्तरैकसहस्रसूक्तेषु, असीत्युत्तर-पञ्चशतोत्तर-दशसहस्रमन्त्रेषु, एकलक्ष-त्रिपञ्चाशत्सहस्र-अष्टशत-षड्विंशशब्देषु, चतुर्लक्ष-द्वात्रिंशद्सहस्राक्षरेषु च विभज्य विभाति ऋग्वेदवपुः।[1] तथा चादादिक-दैवादिक-तौदादिक-रौधादिक-चौरादिक-पाणिनिगणेषु, ज्ञान[2] -सत्ता[3] -लाभ[4] -विचार[5] - चेतनाख्याननिवासेषु[6] अर्थेषु वेत्ति, विद्यते, विन्दति, विन्ते, वेदयते च रूपेषु वेदशब्दस्य अर्थविशालता प्रसमीक्ष्यते।

राष्ट्रस्य भूमि-संस्कृति-सभ्यता-इतिहास-धर्म-साहित्य-प्रतीकचिह्न-राजनीति-कलाः प्रति प्रतिजनमनःसु गरिममयः महिममयश्च यः नैसर्गिक-स्वाभिमानः तदेव वयं "राष्ट्रियभावनेति" पदेन कथयामः। यदि कस्मिन्नपि स्वतन्त्रराष्ट्रे अन्यद् किमपि राष्ट्रं तिर्यग्दृष्टिर्पातयति, कल्मषमनोभावं प्रकटयति, ससैन्यमाक्रामयति च तदा तद्-राष्ट्रान्तर्गत-आबालवृद्धाः जनाः स्वराष्ट्ररक्षायै पारस्परिकमतवैभिन्यान् तिलाञ्जलिं प्रदाय सम्मिल्य मनसा वाचा कर्मणा च राष्ट्ररक्षायै सन्नद्धायन्ते। तदैव-वृद्धपितरौ वृद्धावस्थाश्रयं विस्मृत्य यूनः पुत्रान् मातृभूमिरक्षायै समरक्षेत्रं प्रापयतः। भगिन्यः सहोदरभ्रातॄन् मरणभूमिगमनाय अश्रुपूरिताक्षिभ्यां प्रेषयन्ति। कुलवध्वः सिन्दूरचिन्तां परित्यज्य ललाटञ्च विजयतिलकेन मण्डलीकृत्य स्वप्राणप्रियान् भर्तॄन् युद्धाभिमुखं कारयन्ति। सन्ततिरपि भविष्यकालीन-भरणपोषणं कथं स्यादिति चिन्ताम् एकस्मिन् क्रोडे समुपस्थाप्य स्वपितरं राष्ट्रत्राणाय गन्तुं प्रेरयति। इत्थं सर्वमनुकार्यम् एकैव सर्वशक्तिसम्पन्ना सर्वप्रबला भावना कार्यं कुर्वती दृष्टिविषयिणी भवति सा च अस्मदीनां "राष्ट्रिय-भावना" एवेति।

भारते जनाः बहुविधभाषाभाषकत्वेऽपि, नानावेशभूषासमन्वितत्वेऽपि, नैककुला-चारत्वेऽपि, विविधधर्मानुगामित्वेऽपि, विविधपन्थपथिकत्वेऽपि, विभिन्नजातीयत्वेऽपि, विविधभौगोलिक-राजनैतिक-प्राकृतिकभूमित्वेऽपि "राष्ट्रिय-भावना" एव अस्मान् सर्वान् एकीकरोति।

---

1. उपाध्याय बलदेवः (2006) वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पञ्चमं संस्करणम् , शारदा संस्थान वाराणसी., पृ० 108-109.
2. पा. धा. : 1064
3. पा. धा. : 1172
4. पा. धा. : 1433
5. पा. धा. : 1451
6. पा. धा. : 1709

एतादृश्याः राष्ट्रियभावनायाः निस्सरणं कुतः समारब्धमिति मनसि सम्पुटीकृत्य, अन्वेषणस्यास्य श्रीगणेशो मया कृतः। तदा अन्वेषणं कुर्वन् सर्वेषाम् आधारं वीक्ष्य ऋग्वेदमन्वतिष्ठम्। "श्रुतं मे गोपाय" इत्याधारीकृत्य ऋग्वेदस्तु-अपौरुषेय इति संस्कृतग्रन्थाः संस्कृतसमीक्षकाश्च निगदन्ति। परन्तु अस्य ऋग्वेदस्य साक्षात्कारः ऋषिभिः कृतः। तथैव निरुक्तकारः यास्काचार्यः "ऋषयः कस्मात् मन्त्र दर्शनादिति" अभणत्। ते ऋषयः जनमुखसंस्थापनाय तन्मन्त्रान् प्रकटितवन्तः। एतत्प्रकटनकालविषये पौरस्त्य-पाश्चात्यविद्वांसो नैकमताः परञ्च ते सर्वे समं प्रलपन्ति यत् ऋग्वेदः विश्वस्य प्रथमं साहित्यम्। यस्योदयः अखण्डे भारतेऽभवत्। एतस्माद्धेतोस्ततः पूर्ववर्ति न किमपि मया प्राप्तम्। अतः ऋग्वेदे कुत्र कथञ्च राष्ट्रसमर्पणभावाः उल्लिखिताः, तेऽत्र सर्वेषां पुरतः विक्षिप्यन्ते।

2. राष्ट्रशब्दमीमांसा

शोधपत्रस्यास्य प्रामुख्यं संवहतः राष्ट्रशब्दस्य निष्पत्तिविषये वक्तुकामश्चेदयं दीप्त्यर्थक "राजृ धातोः[1] "सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्" इत्यनेन औणादिकसूत्रेण ष्ट्रन् प्रत्ययसंयोजनेन निष्पद्यते। कोशकारमतानादृत्य शब्दार्थोऽस्य "तारानाथतर्कवाचस्पतिभट्टाचार्येण" विलिखिते वाचस्पत्ये[2] तथा "राधाकान्तदेवेन" विनिर्मिते शब्दकल्पद्रुमे[3] च मतैक्येन "जनपदः" इति कृतः। अपि च पाश्चात्यमनीषिणा "डॉ. एम. मोनियर विलयम महोदयेन"[4] तथा च पौरस्त्यमनीषिणा "आचार्य वामन शिवराम आप्टे महोदयेन"[5] सम्मिल्य राष्ट्रशब्दार्थः "Kingdom, Empire, District, Territory, Country, Region, People, Nation" इति कृतः। यदि शब्दोऽयं राजनीतिपथालोके ईक्ष्यते चेत् तदा बर्गेज [Burgess] महोदयः प्रकथयति- जातीयैकतायामाबद्धो जनसमूहः योऽखण्ड-भौगोलिकपरिक्षेत्रं सेवते स एव राष्ट्रपदग्राह्यः [A nation is a population of an ethnicunity inhabiting a territory of a geographical unity]। तथा च 'गिलच्रिस्ट' [Gilchrist] महोदयेन प्रोच्यते-राष्ट्रशब्दतात्पर्यं यादृशमानवसमूहेन प्रतिभाति यः राज्यरूपे संगठीभूय स्वाभाविक-

---

1. पा. धा. : 822
2. वाचस्पति :, तारानाथ तर्क (1962) वाचस्पत्यम् , षष्ठः भागः , चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी , पृ० 4807.
3. देवः, राधाकान्तः (1967) शब्दकल्पद्रुमः, चतुर्थः भागः, तृतीयं संस्करणम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी .पृ० 158.
4. विलियम्स :, मोनियर (1899) ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस लंदन, पृ० 876.
5. आप्टे ,वामन शिवराम (1985) संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, चतुर्थ-संस्करणम् , मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पृ० 802.

एकतायै कार्यरतः स्यात् [A nation mean's a people organised in a state and acting spontaneously as a unity]।

3. राष्ट्रशब्दमीमांसायाः विश्लेषणम्

सम्प्रति अत्र विश्लेषणधिया परीक्ष्यते चेत्तदा वाचस्पत्यकारः शब्दकल्पद्रुमकारश्च एकपद्धतिविशेषशासनाधीनं भूभागं राष्ट्रपदेन ब्रवीति। मोनियर-विलियमः वामन-शिवराममहोदयश्च सर्वाङ्गीणत्वेन राष्ट्रम् आधुनिकपरिप्रेक्ष्ये लक्षयति। बर्गेज महोदयः गिलक्रिस्ट-महोदयः अन्ये च सर्वे प्राच्यपाश्चात्यराजनीतिविदश्च मानवसमूहस्य जातीय-सांस्कृतिक-आध्यात्मिक-अभिव्यक्त्यात्मक-धार्मिक-सामाजिकैकतायै सन्नद्धं भूभाग-विशेषमेव एकस्य राष्ट्रस्य स्वरूपाधायकतत्त्वमिति मन्यन्ते।

4. राष्ट्ररक्षणभावोद्रेकाः

ऋग्वेदीयासु कासुचन ऋचासु राष्ट्ररक्षणोपदेशाः सुस्थिरीभूय राजन्ते। तत्र ऋषीणामाशयोऽनेन प्रतिभाति यथा राष्ट्रनायकस्य मातृभूमिरक्षकस्य सुनागरिकस्य च परमोत्तरदायित्वमेकमेव तच्च राष्ट्रापकर्षकाणां, राष्ट्राभिदारकानां राष्ट्रारीणां राष्ट्रावनत्यभि-काङ्क्षिणां राष्ट्रेऽशान्त्यभीप्सकानाञ्च यथा प्रदमनं तथा भविष्ये तेषां कदापि प्रादुर्भावो नैव सम्भवेत्[1]।

राष्ट्रभूमिशोषकाणां विनाशः, शत्रुणाधिकृत-राष्ट्रभूमेरुद्धारश्च स्यात्[2]। राष्ट्रस्य शत्रूणामुपरि प्रबलमाक्रम्य ते समूलं विनश्येयुः। स्वकीयास्त्रशस्त्रेषु सुतीक्ष्णां धारां राष्ट्रधर्मत्राणाय धारयेत्। छलि-मायावि-ईष्यालु-शत्रुभिः साकं छलकरणे न विचारयेत्[3]। नृपः पराक्रमशीलान् सेनानायकान् सैनिकाञ्च पोषयेत्।[4] बलवच्छत्रोरपि न विभेत्[5]। राष्ट्रनायकः स्वकीयशासनव्यवस्थां प्रियकरीं तथा च राष्ट्ररक्षायाः अभेद्यप्रबन्धं कुर्यात्। तेन शत्रुभ्यः अनधिकृतसर्वतन्त्रस्वतन्त्र-राष्ट्रं संरक्षेत्[6]। राष्ट्रनायकोऽपि युद्धभूमौ विजयश्रिदात्री

---

1. अनु॑व्रताय र॒न्धय॒न्नप॑व्रता॒नाभू॒भि॒रिन्द्रं॑ श्न॒थय॒न्ना॑भुवः।
   वृ॒द्धस्य॑ चि॒द्वर्ध॑तो॒ द्यामि॑नक्षत॒ स्तवा॑नो व॒ज्रो वि ज॑घान सं॒दिह॑म्॥ ऋ० 1.51.09
2. अ॒स्येदे॒व शव॑सा शु॒षन्तं॑ वि वृ॑श्च॒द्वज्रे॑ण वृ॒त्रमि॑न्द्रं॑।
   गा न व्रा॒णा अ॒वनी॒घ्रमु॒ज्चद॒भि श्रवो॑ दा॒वने॒ सचे॑ता:॥ ऋ० 11.61.10
3. प्रेह्य॒भीहि॑ धृष्णु॒हि न ते॒ वज्रो॒ नि य॑ंसते।
   इन्द्रं॑ नृ॒म्णं हि ते॒ शवो॒ हनो॑ वृ॒त्रं जया॑ अ॒पोऽर्च॒न्ननु॑ स्व॒राज्य॑म्॥ ऋ० 01.80.03
4. स्तो॒त्रमिन्द्रा॑य गायत पुरुनृ॒म्णाय॒ सत्व॑ने। नकि॒र्यं वृ॑ण्व॒ते यु॒धि॥ऋ० 08.45.02, 05.37.04
5. न वेप॑सा॒ न त॑न्य॒तेन्द्रं॑ वृ॒त्रो वि बी॑भयत्।
   अ॒भ्ये॑नं॑ वज्र॑ आय॒सः स॒हस्र॑भृष्टिराय॒तार्च॒न्ननु॑ स्व॒राज्य॑म्॥ ऋ० 01.80.12
6. अस्य॒ हि स्वय॑शस्तरं सवि॒तुः कच्च॒न प्रि॒यम्। न मि॒नन्ति॑ स्व॒राज्य॑म्॥ ऋ० 05.82.02

"अभीवर्त्त" नामकं मणिविशेषं स्वभुजे बध्नाय कुलपुरोहितं प्रार्थ्नोति, अनया राष्ट्रविरोधिनः प्राणान् मुञ्चेयमहम्, तदा मदीयो राष्ट्रः समृद्धतामवाप्नुयात्[1]। एवम् ऋषिभिः राष्ट्रनायकाद-पेक्षते यत् ते सुदृढीभूत्वा स्थिरतया राष्ट्रं संरक्ष्य प्रजाजनानां श्रद्धामवाप्नुयुः[2]।

महिपः राष्ट्रहितकांक्षिणः उच्चपदेषु नियोजयेत्[3]। सेनायां पारिपूर्येण वीरयोद्धृ-कुशलसेनानिनः नियोजयेत्[4]। सर्वदा उत्साहसम्पन्नतासम्पादकानि क्षात्रबलवर्द्धकानि वीरकर्माणि कुर्यात्[5]। सेनानायकः युद्धक्षेत्रे स्वसेनां चातुर्यपूर्वकं संचारेत्, व्यूहात्मिकां संगठेत्, शत्रुसेनां विघटयेत् तां दिग्भ्रान्तयेच्चेति कामयते[6]। विरुद्धदिशः आक्रम्य शत्रून् विनश्येत्[7]। दुराचारि-शत्रुभिः साकं मित्रवत् व्यवहारं कृत्वा तान् सम्यक् विदारयेत्[8]। स्वराष्ट्रं शत्रवः स्वप्नेऽपि आमृत्यु नाभिक्रामयेयुरेवं व्यवस्थापयेत्[9]।

वेदोऽयं कविभ्यः कामयते यत् ते राष्ट्ररक्षकाणां सेनानायकानां राष्ट्रनायकानां च उत्साहवर्धापनाय वीर्यप्रदर्शकानां योद्धानां शौर्यगाथायाः कीर्त्तनम् उत्तमरीत्या सम्पाद्य काव्यं निर्मिमीयेयुः[10], यतो हि मातृभूमिम् आत्मरक्तबिन्दुभ्यः अभिषिञ्चनत्वात् मुण्डस्रजा सुशोभायित्वात्तेऽस्माकं पूज्याः स्तुत्याः नमस्यार्हाः समादरयोग्याश्चेति[11]। इत्थं वीराणां

---

1. अभीवर्तेन हविषा येनेन्द्रो अभिवावृते।
   तेनास्मान्ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्तय॥ ऋ० 10.174.01, 10.174.02
2. आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
   विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥ ऋ० 10.173.01
3. स इत्क्षेति सुधितः ओकसि स्वे तस्मा इळां पिन्वते विश्वदानीम्।
   तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते यस्मिन्ब्रह्मा राजनि पूर्व एति॥ ऋ० 04.5.08
4. तपन्ति शत्रुं स्व1र्ण भूमा महासेनासो अमेभिरेषाम्॥ ऋ० 07.34.19
5. हव्यं नो मित्रो अर्यमा सुजातो राजा सुक्षत्रो वरुणो जुषन्त॥ ऋ० 07.64.01
6. स सनयः स विनयः पुरोहितः स सुष्टुतः स युधि ब्रह्मणस्पतिः।
   चाक्ष्मो यद्वाजं भरते मती धनादित्सूर्यस्तपति तप्यतुर्वृथा॥ ऋ० 02.24.09
7. स्पर्धन्ते वा उ देवहूये अत्र येषु ध्वजेषु दिद्यवः पतन्ति।
   युवं ताँ इन्द्रावरुणावमित्रान्हतं पराच शर्वा विषूचः॥ ऋ० 07.85.02
8. प इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य1घं तपुर्यस्तु चरुरग्निवाँ इव।
   ब्रह्मद्विषे क्रव्यादेघ घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने॥ ऋ० 07.104.02
9. आव शमं वृषभं तुग्र्यासु क्षेत्रजेषे मघवञ्छ्वत्र्यं गाम्।
   ज्योक्चिदत्र तस्थिवांसो अक्रञ्छत्रूयतामधरा वेदनाकः॥ ऋ० 01.33.15
10. प इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने।
    अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः॥ ऋ० 07.46.01
11. अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामिशवसः।
    प्र यज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चा मरुद्भ्यः॥ ऋ० 5.52.5,5.52.14

प्रशंसा प्रकारान्तरेण मातृभूमिप्रशंसा इवावगच्छेत्[1]।

5. संगठनात्मक-भावोद्रेकाः

मन्त्रद्रष्टार ऋषय इदं तथ्यं सुसाधुतया सम्यगवागच्छन् यत् राष्ट्रस्य अखण्डता, अवच्छिन्नता, नैसर्गिकगत्या प्रवाहशीलता, राष्ट्रप्रगतिशीलता, जनबन्धुता च राष्ट्रियाणां जनानां समरसतामपेक्षते। अत एव अस्माकं पूर्वसूरिभिः ऋग्वेदे प्रतिपदं संघीयात्मकभावाः प्रपूरिताः, यैः जनमनसः रञ्जनपुरस्सरं गणतन्त्रात्मकता प्रतिरोमं प्रभिद्य रक्तसंशोधकहृदयम् अधिस्थीयात्। ऋग्वेदः धरावतीर्य राष्ट्रसंघस्य अवरोधकभित्तीन् रक्षकभित्तीकुर्वन्, जनमलानि निर्मलीकुर्वन्, रागान् विरागीकुर्वन्, दोषान् निर्दोषीकुर्वन्, क्लेशान् अपकल्मषीकुर्वन्, भयभीतान् च निर्भयीकुर्वन् अवलोलुक्यते। तथा ह्यत्र राष्ट्रनायकाय पाञ्चजन्योपाधिः प्रदत्ता[2]। अनेन समाजेषु पञ्चविधजनानां ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-निषादानां हितकर्तृत्वम् इति ऋग्वेदस्य तात्पर्यं प्रतिभाति वेदभाष्येषु। उपाधिनानेन विभूषित-राष्ट्रनायकस्य पञ्चविधेषु अवयवेषु भेदभावं तिरस्कृत्य सङ्कोचस्य च अपाकरणपुरस्सरं प्रवेशोऽभिकामना अमुष्यां श्रुतावकार्षीत्[3]। पाञ्चजन्यमेतद् न केवलं राष्ट्राध्यक्षाय अपितु समेषां कृते महद्गौरवायेति ऋग्वेदेन उद्घ्रियते[4]।

वाणी-बुद्धि-ज्ञानानां मिथः सामञ्जस्यात्मकोपदेशैः अस्माकीनां युष्माकीनाञ्च पारस्परिकैकता संरक्ष्यतेऽत्र[5]। यतो ह्यनेन एकतायामेव सुखमन्वभावि[6]। तन्त्रैकनियन्त्रितेषु कुलीनता, अभ्युदयता, तेजस्विता, शक्तिसम्पन्नता, अस्मिता चान्तर्भूयन्ते[7]। प्रसन्नतायाः सुरक्षायाश्च एकं प्रबलं सुदृढसाधनमैक्यं विद्योतते[8]। सार्वजनीनकार्याणां सिद्धिः जनैक्यानु-

---

1. प्र व॒ स्पळ॑क्रन्सुवि॒तायं॑ दा॒वनेऽर्चा॑ दि॒वे प्र पृ॑थि॒व्या ऋ॒तं भ॑रे।
   उ॒क्षन्ते॒ अश्वा॒न्तरु॑षन्त॒ आ रजोऽनु॒ स्वं भा॒नुं श्र॑थयन्ते अर्ण॒वैः॥ ऋ० 05.59.01
2. स व॑ज्र॒भृद्दस्यु॒हा भी॒म उ॒ग्रः स॒हस्र॑चेताः श॒तनी॑थ ऋ॒भ्वा।
   च॒म्री॒षो न शव॑सा॒ पाञ्च॑जन्यो म॒रुत्वा॑न्नो भव॒त्विन्द्र॑ ऊ॒ती॥ ऋ० 1.100.12,5.32.11
3. यः पञ्च॑ चर्ष॒णीर॒भि नि॑॑ष॒सादु॒ दमे॑॑दमे। क॒विर्गृ॒हप॑ति॒र्युवा॑॥ ऋ० 07.15.02
4. ऋषिं॑ नरावहंसः पाञ्चजन्यमृवीषा दत्रिं॑ मुञ्चथो गणेन।
   मिनन्ता दस्थोरशिवस्य माया अनुपूर्वं॑ वृषणा चोदयत्ता. ऋ० 01.117.03
5. युवाकु॒ हि शची॑॑नां युवाकु॑ सुमती॒नाम्। भूयाम॑ वाज॒दाव्ना॑म्॥ ऋ० 1.17.4, 3.4.8
6. अती॑याम नि॒दस्ति॒रः स्व॒स्तिभि॑॑र्हित्वाव॒द्यमरा॑तीः।
   वृ॒ष्ट्वी शं योरापं॑ उ॒स्रि भे॑॑ष॒जं स्याम॑ मरुतः स॒ह॥ ऋ० 05.53.14
7. प्र ते॑॑ अ॒ग्नयो॒ऽग्निभ्यो॒ वरं॑ निः सु॒वीरा॑सः शोशुचन्त द्यु॒मन्त॑॑।
   यत्रा॒ नरं॑ स॒मास॑ते सुजा॒ताः॥ ऋ० 07.01.14
8. अग्ने॑॑ या॒हि दू॒त्यं॑1 मा रि॑॑षण्यो दे॒वाँ॑ अच्छा॑ ब्रह्मकृता॑ ग॒णेन॑॑।
   सर॑स्वतीं म॒रुतो॑॑ अ॒श्विना॒पो यक्षि॑॑ दे॒वान्र॑॑त्न॒धेया॑य॒ विश्वा॑न्॥ ऋ० 07.09.5

कूलाचरणाधीना[1]। निर्विवादेन समरसता अक्षुण्णा स्थीयात्, एतदर्थं निर्भ्रान्तकथनान्यपि अत्र समाविष्टानि[2]। यदि कुत्रचिद् कोऽपि ऐक्यभङ्गं चिकीर्षति तदा तावत्पूर्वम् एव ऐक्यभङ्गाभिलाषिणो भङ्गं संस्कुर्यात्[3]। इति सर्वविध-ज्ञानाकरः ऋग्वेदः शिशिक्षे।

साम्प्रतिके काले समाजे अतिशयघनिष्ठसम्बन्ध एकेन जननस्थानेन वयं मन्यामहे। इमां धारणामाधारीकृत्य ऋग्वेदमन्त्रैः पारस्परिकसौहार्दसंस्थापनाय ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राख्यानां समाजघटितसमुदायानां समेषां जनानामुत्पत्तिः एकस्य विराट्पुरुषस्य परमपितृपरमात्मनः शरीरावयवेभ्योऽभवद् अत एव सर्वे एकस्थानजन्यत्वादेकमेवेति परमोदात्तान् भावान् सघोषं प्रगदिताः[4]।

राष्ट्रविकासः जनानां जातीय-धार्मिक-सांस्कृतिक-भाषिक-राजनैतिकविभेदान् एकीभूय समरसतामपेक्षत इति ऋग्वेद ऋजुरवागच्छत्। एतस्माद्धेतोरस्माकम् आकृतिः, हृदयम्, मनः, गमनं, वदनं, सभा, समितीत्यादीनाम् समानाय सामाजिक-मात्स्यन्यायप्रशमनाय चानेन प्रार्थ्यते। यथा-

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ ऋ० 10.192.02

समानो मन्त्र समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥

ऋ० 10.192.03

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति॥ ऋ० 10.192.04

6. मातृभूम्यै भावोद्रेकाः

जन्मभूमौ मातृभावस्य परिकल्पना सर्वप्राथम्येन अस्माभिः ऋग्वेदे समुपलभ्यते[5]।

---

1. यत्पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत।
   अस्तृणाद्बर्हणा विपोऽर्यो मानस्य स क्षयं॥ ऋ० 08.63.07
2. समान ऊर्वे अधि संगतास सं जानते न यतन्ते मिथस्ते।
   ते देवानां न मिनन्ति व्रतान्यमर्धन्तो वसुभिर्यादमानाः।। ऋ० 07.76.05
3. इन्द्रावरुणा वधनाभिरप्रति भेदं वन्वन्ता प्र सुदासमावतम्।
   ब्रह्माण्येषां शृणुतं हवीमनि सत्या तृत्सूनामभवत्पुरोहितिः॥ ऋ० 07.83.04
4. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
   ऊरू तदस्य यद्वैश्यं पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ ऋ० 10.90.12
5. तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।
   तद्ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्॥ ऋ० 01.89.04

ततः ऋग्वेदप्रणयाद् अद्यावधिपर्यन्तं वयं स्वराष्ट्रं मातृभूमिनाम्ना संस्मर्यामहे। भविष्येऽपि तथैव अक्षुण्णरीत्या रक्षितास्मह इति आशासे यतो हि वैदिकीया संस्कृतिरस्माकीनामधिरक्तकणं सर्वतोभावेन संश्लिष्टा चकासते।

अस्माकं हृदयेषु जन्मभूमिं प्रति आकर्षणोत्पादनाय ऋषिभिः वेदे अस्याः अनेकविधं वैशिष्ट्यं प्रोक्तम्, यथा एषा धरा वसुन्धरा-ऐश्वर्यदायिनी[1]-सुखदायिनी-निवासदायिनी-कल्याणकारिणी-आनन्ददायिनी-घृतदुग्धाभ्यां परिपूर्णा-स्योना-अनृक्षरा-निवेशनी-शिवा-सुषदा-ऊर्जस्वती-पयस्वतीत्यादि-वैशिष्ट्यप्रदानेनास्मद्हृदयस्थमातृभावना ऋग्वेदेनैधीष्ट[2]।

वेदेनोपदिष्टं यत् कोऽपि श्वसितवान् जीवः तथा न चरेत् येन मातृभूमेः प्रतिष्ठा अधोगामिनी स्यात्। तथैव राष्ट्रपतनोन्मुखो मार्गो न समाश्रयणीयः। मातृभूमेरुन्नतिः समेषामिदमुत्तरदायित्वं स्यात्। अमुष्याः राज्यगत-खण्डता राष्ट्रिय-अखण्डतायां परिवर्तयेत्[3]।

ऋग्वेदेन मातृभूम्यै "देवी" नामकोपाधिः प्रदत्तः, इमां प्रति सुखदायककथनं प्रकथय्य एषा कदापि जीर्णा क्षीणा न स्यात्, एषा पवित्रैश्वर्यप्रदात्री भवेदित्यभिकांक्षिता। तथा हि ऋग्वेदे ऋषयः अकथयन् यत् सर्वजनाः मातृभूमिमुपतिष्ठेयुः।[4] भूमे रमणीयतां सम्पन्नताम् उपयोगितां च वर्ण्य ऋग्वेदेन अस्माकम् सकलजनहृदयेषु जन्मभूमिं किं वा राष्ट्रभूमिं प्रति आत्मगौरवेण ममत्वपरिपूर्णभावनया स्निग्धाङ्कुराणां विस्फोटः स्फुट्यते। अनयैव कनिष्ठत्व-मध्यमत्व-ज्येष्ठत्वभावनां निरादृत्य मातृभूमेः जन्यत्वात् एकीभूय सर्वदिक्षु विकासाय सर्वात्मभिः प्रयतेत् यथा-

ते अंज्येष्ठा अकंनिष्ठास उद्भिदोऽमंध्यमासो महंसा वि वावृधुः।
सुजातासोंऽ जनुषा पृश्निंमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा
जिगातन॥ ऋ० 05.59.06, 05.60.05

7. राष्ट्रदेव्यात्मक-भावोद्रेकाः

ऋग्वेदे राष्ट्रम् इत्यस्मिन् "राष्ट्रदेवी" रूपेण कल्पना कल्पितः, यया अमूर्तराष्ट्रशक्तेः किं वा राष्ट्रचेतनायाः एव मानवरूपं समुपस्थीयते। राष्ट्रदेवी जनेषु प्रतिरोमं समावसति। एषा एव सौहार्द-शौर्य-ज्ञान-आरोग्यानां प्रदात्री। सर्वजनीनचिन्तनं

---

1. भारतीळे सरंस्वति या व सर्वाऽ उपब्रुवे। ता नंश्चोदयत श्रिये॥ ऋ० 01.188.08
2. स्योना पृंथिवि भवानृक्षरा निवेशंनी। यच्छाऽ नः शर्मंऽ सप्रथंः॥ ऋ० 01.22.15
3. अयं पन्था अनुंवित्तः पुराणो यतोऽ देवा उदजांयन्त विश्वेऽ।
अतंश्चिदा जंनिषीष्ट प्रवृंद्धो मा मातरंममुया पत्तवे कः॥ ऋ० 4.18.1, 2,3
4. इळा सरंस्वती मही तिस्रो देवीर्मऽयोभुवः।
बर्हिः सीऽदन्त्वस्रिधंः॥ ऋ० 1.13.9, 1.142.9, 5.5.8, 7.2.8

राष्ट्रदेवीम् अभिनिविशते। एषा एव तादृशी शक्तिः या राष्ट्रं तेजस्विनं विनिर्माति। ज्ञानसम्पन्नतां विदधाति। राष्ट्रशक्तिसम्पन्नेषु देशेषु भोज्यानां पेयानां पदार्थानाम् अभावो नैव कल्प्यते। यैः जनैः राष्ट्रदेवी किं वा राष्ट्र-चेतना उपेक्ष्यते ते अवश्यमेव विनाशमुखद्रष्टारः भवन्ति। एषा समस्तराष्ट्रेषु आनन्दं संचरति। इयं राजा-प्रजयोः हितैषिणी विद्यते[1]।

8. स्वराज्यभावोद्रेकाः

ईस्वीये एकोनविंशतिशताब्द्याः प्रौढावस्थायां तथा च विंशतिशताब्द्याः यौवने आंग्लशासनप्रणाल्या सह शीतयुद्धमानस्य भारतीय कांग्रेसस्य षडुत्तरएकोनवंशतिशततमे (1906) ईस्वीये कलकत्तायां द्वाविंशतितमे राष्ट्रिये अधिवेशने राष्ट्रपितृ-राजनैतिकगुरुः दादाभाई-नौरोजी इति महापुरुषेण स्वराज-शब्दप्रस्फोरणं कृतम्। येन समग्रदेशे स्वातन्त्र्यवह्निः ज्वालामुखीव चतुर्दिक्षु प्रसरितः। तेन एकस्य नवीनस्य युगस्य शुभारम्भोऽभूत्। स च स्वराजशब्दः ऋग्वैदिक-संस्कृतेः अप्रतिमोपहार एव। वेदेऽस्मिन् स्वराजविस्ताराय प्रजातान्त्रिकशासनव्यवस्थायै देवाः प्रार्थिताः[2]। तथा च स्वराजभावनया सुसंस्कृतं सम्पूर्णमेकं सूक्तमस्मै समर्पितम्[3]।

9. राष्ट्रियसम्पदात्मक-भावोद्रेकाः

राष्ट्रियसम्पदानामपि गुणगानम् ऋग्वेदेन गीयते। धन-धान्य-क्षेत्र-तडाग- नदी-पर्वत-वनस्पति-औषधि-पशु-अस्त्र-शस्त्र-खननस्थलादि-राष्ट्रियसम्पदा-विषये ऋग्वेदः संवेदन-शीलतां भजति। राष्ट्रसम्पदासंरक्षणं राष्ट्रसंरक्षणमिति धिया जलसंचायकेषु सरितादिषु मातृभावः प्रदृश्यते[4]। कुत्रचिद् भगिनीभावोऽपि दृश्यते[5]। तेन इमां राष्ट्रियसम्पदां न कोऽपि दूषयेत्, एतासां जलं सुस्वादसमन्वितं दिव्यतां प्रबोधयति वेदः[6]। अनेन कृषीवलानां कृषिकर्मणि जीवनाधायकतत्त्वं प्रदर्शितम्। जलस्याधिपतिरिन्द्र उपदिष्टः, एतज्जलं

---

1. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
   अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ ऋ० 10.25.1-8
2. आ यद्वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरय।
   व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥ ऋ० 05.66.06
3. इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम्।
   शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ ऋ० 1.80.1-16
4. ऋग्वेद 01.42.02, 02.41.16, 07.36.06
5. ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन। ऋ० 3.33.9, 6.61.9, 10
6. दिवक्षसो धेनवो वृष्णो अश्वा देवीरा तस्थौ मधुमद्वहन्तीः।
   ऋतस्य त्वा सदसि क्षेमयन्तं पर्येका चरति वर्तनिं गौः॥ ऋ० 3.7.2, 7.96.5

मानवीयजीवनार्थं महदुपयोगि आश्रयभूतञ्चेति उवाच।[1]

पर्वतैरपि राष्ट्रं संरक्ष्यते। यथा हिमालयेन भारतराष्ट्रम्। पर्वताः वृष्टये उपकारकत्वं बिभर्ति, वनस्पतिना नैरुज्यप्रदानादिकर्मणा सुखकारकत्वेन[2] मनुष्याणामुपकारकत्वं संसूच्यते[3]। पर्वतानामपि राष्ट्रियसम्पदात्वं द्योतयित्वा स्वप्रेमपरिपूर्णान् भावान् प्रक्षेपयति। वेदैः गां राष्ट्रियपशुं विधाय राष्ट्रियसम्पत्तिं स्वीकृत्य एतस्याः महिम्नः गानं कृतम्। गोधनवृद्धौ कामना कृताः। एवमस्याः संरक्षणं प्रकथितम्। प्रत्येकमनुसन्ततिगृहेषु एषा राष्ट्रियसम्पत्तिः गौः सम्पन्नतां समृद्धिं समावृणुयात्[4]।

वनानि हरितगृहप्रभावं विनश्य पारिस्थितिकतन्त्रनिर्माणे साहाय्यं कृत्वा पर्यावरणं व्यवस्थापयन्ति। ओषधयस्तु प्राचुर्येण वनेषु एवोपजन्यन्ते। गृहशोभावर्धकसाधनानि कर्गदादीनि च वनादेव उपलभ्यन्ते, अत एव वनान्यपि राष्ट्रियसम्पदासु स्वकीयां सशक्तमुपस्थितिं विदधाति[5]।

10. राष्ट्रविकासाय भावोद्रेकाः

ऋग्वेदे राष्ट्रिय-विकासस्यापि भावाः प्राप्यन्ते। अत्र वेदेन स्वराष्ट्रसम्पन्नतायै धन-धान्येन परिपूर्णराष्ट्रनिर्माणाय कृषिकर्मणः प्रामुख्येन महत्त्वं प्रतिपादितम्, एतदर्थं कृषिकर्म निष्ठापूर्वकं कर्तुम् ऋग्वेदः प्रेरयति[6]। राष्ट्रे खाद्यान्नं न्यूनीभावं न गमयेत् अतः क्षेत्रसिञ्चनार्थं तडागादि खनयितव्या इत्यादि व्यवस्थां कर्तुं राष्ट्रनायकं निर्दिशति[7]। जनानां क्षेत्राणि धान्यादिना परिपूर्णं भूत्वा सुशोभायमानानि स्युः एतदर्थं वेदेन देवाः प्रार्थिताः[8]।

---

1. इमा जुह्वाना युष्मदा नमोभि प्रति स्तोमꣳ सरस्वति जुषस्व।
   तव शर्मन्प्रियतमे दधाना उपꣳ स्थेयाम शरणं न वृक्षम्॥ ऋ० 07.95.05
2. आ शर्म पर्वतानां वृणीमहे नदीनाम्। आ विष्णोः सचाभुवः॥ ऋ० 08.31.10
3. शृण्वन्तु नो वृषणः पर्वतासो ध्रुवक्षेमास इळया मदन्तः।
   आदित्यैर्नो अदितिः शृणोतु यच्छन्तु नो मरुतः शर्मः भद्रम्॥ ऋ० 03.54.20
4. आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
   प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः॥ ऋ० 6.28.1, 7.18.4
5. आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्।
   प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ऋ० 10.146.06
6. क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि।
   गामश्वं पोषयित्वा स नो मृळातीदृशे॥ ऋ० 4.57.1-8, 10.134.7
7. राजा राष्ट्रानां पेशो नदीनामनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायु॥ ऋ० 7.034.11
8. त्वया वयं सुवृधा ब्रह्मणस्पते स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि॥ ऋ० 2.23.9, 3.54.21, 5.82.6

स्वार्थि-दुराचारि-असत्यभाषक-कपटि-छलकर्तृ-निन्दक-पापि-प्रजाभक्षकेण च राष्ट्रनायकेन राष्ट्रविकासं कर्तुं न पार्यत इति सम्यग् अवगच्छति वेदः। एतस्माद्धेतोः वेदः एतादृशं नायकं राजसिंहासनाद् पातनाय आदेशोऽपि प्रददाति[1]। तथा च निस्वार्थि-सदाचारि-सत्यभाषक-प्रजारक्षक-धर्मवत्-सहिष्णुतासम्पन्नं जनं राष्ट्रनायकत्वेन राजसिंहा-सनारूढं कारयेत् इत्युपदिशति ऋग्वेदः। यतो हि धीमता क्रियाशीलवतैव नायकेन विकासो सम्भाव्यते[2]।

11. राष्ट्रमङ्गलाय भावोद्रकाः

अस्माकं वेदेषु ततोऽपि ऋग्वेदे राष्ट्राय मङ्गलकामना तु प्रतिपदं चकासते। तत्र येन केनापि अमङ्गलं किं वा अशान्तिभवितुमर्हति तत् प्राकृतिकं वैकृतिकं किमपि स्यात् तान् सर्वान् प्रति समष्टिरूपेण मङ्गलाय शान्तये च अभ्यर्थना दरीदृश्यते। ऋग्वेदः जनानां शतवर्षाणि जीवितुम्, द्रष्टुम्, श्रोतुम्, वक्तुम्, ज्ञानं प्राप्तुम्, वर्धयितुम्, परिपोषयितुञ्चाभिकामयते। एतत्पूर्तिमाध्यमेन राष्ट्रमंगलं सुनिश्चितम्, यतो हि राष्ट्रमङ्गलं तज्जनमङ्गलनिर्भरं वर्तते[3]।

12. अन्ताराष्ट्रियमङ्गलाय भावोद्रेकाः

ऋग्वेदे न केवलं राष्ट्रमङ्गलकामना प्रतिपदं दृष्टिगोचरीभवति अपि तु अन्ताराष्ट्रियमङ्गलकामनापि श्रुतिपथमायाति। तत्र ऋषयः वैश्विकजनान् शंपूर्वकं सर्जनात्मक-कार्येषु प्रेयरन्ति। राष्ट्ररक्षकान् धर्मरक्षकाञ्च प्रति निवेदनं कर्णपथमायाति यत् तेऽपि शान्तिस्थापनाय सदा सर्वदा प्रयतेयुः[4], इत्यादि विचारैरिदं वक्तुं शक्यते यद् वेदाः न केवलं हिन्दूनां संस्कृतज्ञानां भारतीयाञ्च कृते विद्यन्ते, अपि तु एते निश्चप्रचम् उपकारभावनया प्रणीताः, सार्वभौमिकाश्च। अतः वेदाः वैश्विका एव हि।

13. निष्कर्षः [conclusions]

महीतले धातुषु स्वर्णम्, खनिजेषु हीरकः, जलेषु स्वातिबिन्दुः, मानवेषु नृपः, नृपेषु चक्रवर्तिः, पुष्पेषु पद्मं, फलेषु आम्रम्, पर्वतेषु नगाधिराजो हिमालयः, ऋतुषु

---

1. यो नं॑ पूषन्नघो वृको॑ दुशेव॑ आदिदे॑शति। अप॑ स्म॒ तं प॒थो ज॑हि॥ ऋ० 1.142.2, 2.23.10
2. प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ जा॒तानि॒ परि॒ ता ब॑भूव।
यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो र॒यी॒णाम्॥ ऋ० 10.121.10
3. तच्च॑क्षु॒र्देव॑हि॒तं शु॒क्रमु॒च्चर॑त्। पश्ये॑म श॒रद॑: श॒तं जीवे॑म श॒रद॑: श॒तम्, शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्. ऋ० 07.66.16, यजु. 36.24
4. शं नं॑ इन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भि॒ शं न॒ इन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या।
शमिन्द्रा॒सोमा॑ सु॒वि॒ताय॒ शं योः शं न॒ इन्द्रा॑पू॒षणा॒ वाज॑सातौ॥ ऋ० 7.35.1-15

वसन्तः, देवेषु इन्द्रः, वृषेक्षु वटवृक्षः, रसेषु सोमरसः, शरीरावयवेषु आत्मा च यथा श्रेष्ठतमत्वेन व्यवहरति तथैव श्रेष्ठतमत्वेषु अपि श्रेष्ठतमः गरुत्मत्सु अपि गरुत्मानयं ऋग्वेदः।

राष्ट्रियभावना तु केवलमेकं जीवनमूल्यं विभाति, अत्र तु सर्वाण्यपि जीवनमूल्यानि विद्योतन्ते। मूल्यं व्यक्तेः जीवनस्य निदेशकः सिद्धान्तोऽस्ति। मूल्यमाश्रित्य कश्चिद् स्वजीवनस्य दशां दिशञ्च निश्चिनोति। कर्त्तव्याकर्त्तव्यबोधः मूल्येनैवावगच्छति। मूल्यमेव जीवनस्य व्यवहारान् आधारान् आचारांश्च नियमयति। धर्मार्थकाममोक्षाणां चिन्तनैः सह आचारविचारयोः कलासाहित्ययोः कर्त्तव्याकर्त्तव्ययोः मूल्याङ्कनेन सह व्यवहारो हि मानवीयमूल्यस्य आधारस्तम्भो विद्यते। सर्वेषु आत्मवद्दृष्टिः, सर्वान् प्रति श्रद्धा, दया, क्षमा, सद्भावना, राष्ट्रियभावना चेत्यादीनि भारतीयजीवनस्य सर्वाण्यपि मूल्यानि ऋग्वेदे सुरक्षितानि सन्ति।

ऋग्वेदेऽस्मिन् राजनीतिशास्त्रम्, अर्थशास्त्रम्, कृषिशास्त्रम्, व्यापारशास्त्रम्, संगीतशास्त्रम्, समाजशास्त्रम्, चित्रकलाशास्त्रम्, प्रबन्धशास्त्रम्, साहित्यशास्त्रम्, नाट्यशास्त्रम्, जीवविज्ञानम्, अन्तरिक्षविज्ञानम्, शरीरविज्ञानम्, अध्यात्मविज्ञानम्, भाषाविज्ञानम्, चिकित्साविज्ञानम्, मनोविज्ञानम्, प्रौद्योगिकविज्ञानम्, खगोलविज्ञानम्, रसायनविज्ञानम्, पशुविज्ञानम्, पक्षिविज्ञानम्, वनस्पतिविज्ञानम्, बीजगणितम्, रेखागणितम्, वैदिकगणितम्, संस्कृतभाषा, संस्कृतमाध्यमेन विविधभाषा चेत्यादीनां गर्भवपनमनेनैव सम्पाद्यते। एतेऽस्य गर्भोदरे प्रारम्भिकावस्थां समाप्य ततः जनिं प्राप्य अद्य युवावस्थायां जीवन्तः सन्ति। तस्मिन् ज्ञाने परिष्करणं कुर्वत् आविष्करणं सञ्जातम्। अत एव आधुनिकज्ञानवेत्तारः प्रलपन्ति यद् वेदेषु यानि कानिचिदपि आविष्काराणां ज्ञानसूत्राणि अविद्यत तानि सर्वाण्यपि अस्माभिः दुहितानि। अत एतेषां नैवोपादेयत्वं साम्प्रतिके काले। परञ्च मिसाइलमेननाम्ना सुविख्यातः भारतराष्ट्रस्य वैज्ञानिकशिरोमणिः भारतशासनस्य पूर्वराष्ट्रपतिः डॉ. अब्दुल-कलाम-महोदयः उद्बोधयति यत् "वेदैः विविधक्षेत्रे बहुज्ञानराशयः अवातीर्णाः तथापि अनेकाः ज्ञानसरितः अवशिष्टाः विराजन्ते गुह्यमानाश्च वर्तन्ते ज्ञानाकरे वेदान्तर्गते। एतासां सर्वासामपि प्रवाहाय वेदाः पुनः पुनरनुसन्धेयाः।

ऋग्वेदेन भारतराष्ट्रस्य सर्वसीमन उल्लंघ्य वैश्विकपरिधिं प्रविश्य वैश्विकविचारधारा नैसर्गिकरूपेण प्रवाह्यते। राष्ट्रस्य भौगोलिकसीमानं प्रति सजगता राष्ट्रभूमिं प्रति मातृभावना, राष्ट्रस्य प्राकृतिकसम्पदां प्रति उदात्तभावना, राष्ट्रस्य संस्कृतेः समादरभावना, राष्ट्रस्य भाषायाः साहित्यस्य च गुणगानं, राष्ट्रोन्नतये यूनः प्रेरणम्, राष्ट्ररक्षायै सुदृढात्मकभावना, राष्ट्रहिताय आत्म-उत्सर्गिकी भावना चेत्यादिमाध्यमेन ऋग्वेदः राष्ट्रियभावनायाः प्रसवं कुर्वन् ईक्ष्यते। शान्तिस्थापनाय समस्तविश्वम् एकनीडं कर्त्तुम्, विश्वकौटम्बिकभावनां प्रकटयितुम्, वेदोऽयम् अन्ताराष्ट्रियग्रन्थपदवीमारोहयति। राष्ट्रियग्रन्थभावना तु सङ्कुचित-

भावनायाः प्रस्फोरणं तदपि सोपानक्रमे आदौ ऋग्वेदः भारतराष्ट्रस्य राष्ट्रग्रन्थपदव्याः अलङ्करणपूर्वकम् अन्ताराष्ट्रिय ग्रन्थपदत्वेन कान्तिमान् स्यात् विश्वशान्तिदूतत्वेनापि विभूषितः स्यात्। इति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

(15) सन्दर्भग्रन्थसूची [References[ûû]

01. आचार्यः सायणः, कृष्णयजुर्वेदस्य तैत्तरीयशाखायाः उपोद्घातम्। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य 01.03.28 महाभारत, शान्तिपर्व, 232.24

02. आप्टे, वामन शिवराम (1985) संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, चतुर्थ-संस्करणम्, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पृ. 802.

03. उपाध्याय, बलदेवः (2006) वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पञ्चमं संस्करणम्, शारदा संस्कृत संस्थान वाराणसी, पृ. 108-109.

04. ऋग्वेदः.

05. गीता, अध्यायः 04, श्लोकः 38.

06. देवः, राधाकान्तः (1967) शब्दकल्पद्रुमः, चतुर्थः भागः, तृतीयं संस्करणम् चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी. पृ. 158.

07. आचार्यःपाणिनी, धातुपाठः, धातुक्रमाङ्कः 0822, 1064, 1172, 1433, 1451, 1709.

08. मनुः, मनुस्मृतिः, अध्यायः 12, श्लोक : 97.

09. वेदव्यास;, महाभारतम्, शान्तिपर्वः, 232.34.

10. वाचस्पतिः, तारानाथ तर्क (1962) वाचस्पत्यम्, षष्ठः भागः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, पृ0 4807.

11. विलियम्सः, मोनियर (1899) ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस लंदन, पृ० 876.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (192-196) January-June 2019 ISSN 2277-4351

Contribution of Great Thinker Yogi Sri Aurobindo

-Prof. Shashi Tiwari (Retd.)
University of Delhi, New Delhi

Our hearts desire newness and appreciate modern technology, while our brains feel enormous pride when acquainted with traditional knowledge systems. Ancient knowledge of our ancestors is documented in Sanskrit language in the vast Vedic literature revealed by Vedic seers, beginning from Rigveda. After the Vedic Literature, we have the classical Sanskrit literature which is written by sages and poets, starting from Valmikiya Ramayana.

It is generally viewed that what is called Indology is an academic study of languages and literature; and history and cultures of the Indian sub-continent. More specifically Indology deals with the study of Sanskrit literature, Hinduism and other religions such as Jainism, Buddhism, and other indigenous religions of India. It can be said that Indology as a discipline owes its existence to the Persian anthropologists and historian of eleventh century al-Biruni, whose researches on India covered political, cultural, scientific and religious history of India. Apart from that, the contributions made by the British orientalist Henry Thomas Colebrooke, German Indologist Max Mūller, and many others made it an interesting discipline. During British rule in India, these foreign scholars of Indian Studies contributed variously through editing and publishing of several texts . Studies of these texts on different levels were also done by them. Some misinterpretations done by them knowingly or unknowingly lead to many controversies.Side by side, Indian scholars were also writing on Vedic thoughts and Sanskrit traditions but their researches were either ignored by academic world or away from publicity, they were doing their work for self satisfaction. Now it is time to refute wrong and distorted theories of western scholars and to study right approach of distinguished Indian scholars.

Contributions of Indian Indologists who wrote in English for the universal academics is not of lesser importance. Their contribution and researches are largely based on Indian perspective which helps to correct distorted views. Sri Aurobindo, V.S.Agrawal, S Radhakrishnan, Bal Gangadhar Tilak, R.N. Dandekar, Lakshman Svarup, V.S. Apte, P.V. Kane and many more are worth mentioning in this context.

The philosophical traditions of India represent the philosophy of life and of spirit. When we talk about philosophy of life, the diverse disciplines such as language, literature, history, philosophy and culture become part and parcel of it.We have long tradition of knowledge , and therefore , wider outlook and openness of mind is required to reach certain conclusion. Here Contributions of Sri Aurobindo to Indian studies, particularly to Vedic studies is to be discussed.

(1) Life of Sri Aurobindo

Sri Aurobindo(born Aurobindo Ghose; 15 August 1872 D. 5 December 1950) was an Indian nationalist, philosopher, yogi, guru and poet. He joined the Indian movement for independence from British rule, for a while was one of its influential leaders and then became Sri Aurobindo, a spiritual reformer, introducing his visions on human progress and spiritual evolution.

Sri Aurobindo studied for the Indian Civil Service at University of Cambridge, England. After returning to India he took up various civil service works under the maharaja of the princely state of Baroda and began increasingly involved in nationalist politics and the revolutionary movement in Bengal. He was arrested in the aftermath of a number of bomb outrages linked to his organization, but was only imprisoned for writing articles against British rule in India. He was released when no evidence could be provided. During his stay in the jail he had mystical and spiritual experiences, after which he moved to Pondicherry, leaving politics for spiritual work.

During his stay in Pondicherry, Sri Aurobindo developed a method of spiritual practice he called Integral Yoga. The central theme of his vision was the evolution of human life into a life divine. He believed in a spiritual realization that not only liberated man but transformed his nature, enabling a divine life on earth. In 1926, with the help of his spiritual collaborator,referred to as "The Mother", he founded the Sri Aurobindo Ashram. He died in Pondicherry.

(2) Sri Aurobido's Literary works

His main literary works are *The Life Divine*, which deals with theoretical aspects of Integral Yoga; *The Synthesis of Yoga*, which deals with practical guidance to Integral Yoga; and *Savitri: A Legend and a Symbol*, an epic poem. His works also include philosophy, poetry, translations and commentaries on the *Vedas*, *Upanishads* and the *Bhagavad Gita*.*The Secret of the Veda*, in two vols is study of Vedic thoughts and hymns, *Vedic Symbolism* introduces the major Vedic concepts and reveals their mysterious sense. Most of the works and writings of Sri Aurobindo are published today and many of his literary works are translated in Hindi and other languages.

He was nominated for the Nobel Prize in Literature in 1943 and for the Nobel Peace Prize in 1950.

(3) Vedic Interpretation of Sri Aurobindo

Today we find many methods and schools for the interpretation of Vedic Mantras. Ancient Indian commentators mostly followed *Yajnika* or Ritualistic method for the meaning of Mantras. Western scholars recommended historical or comparative method for Vedic interpretation. Shri Aurobindo stated that Vedic mantras reflect highest spiritual experiences of seers , and they are mystic and profound by nature. In 'The Secret of Veda' Sri Aurobindo breaks new ground in interpreting the ancient Vedas. His deeper insight into this came from his own spiritual practices for which he found vivid allegorical descriptions in the Vedas. Sri Aurobindo was able to uncover the mystery of the meanings, the inner psychological and yogic significance of the Vedic hymns. The true inner meaning of the Veda and its relevance for self-realization and enlightenment is revealed in his method.

He believed that the Veda Samhita is the eternal source of the dharma, culture and spiritual knowledge of India. In his opinion Veda is mysterious. 'The Secret of Veda' is a study to understand Vedic mystics, their philosophic system, the symbolism and the truth. The translation of selected hymns of the Rig-Veda is helpful to know Vedic thought.

'Is there at all or is there still a secret of the Veda?'- Sri Aurobindo asks in the opening sentence of this book. He examines the ritualistic and naturalistic theory of nineteenth-century European scholars, rejects it and then sets forth his own view. The hypothesis I propose is that the Rig Veda is itself the one considerable

document that remains to us from the early period of human thought. (*The Secret of the Veda* p.7*)* 'A hypothesis which, in addition, may shed light on one or two important problems in the history of ancient thought and cult.' (*The Secret of the Veda* p.1). He further states- 'The sense of Vedic symbols and the psychological functions of the Gods is thus a difficult but necessary task, for which these chapters and the translations that accompany them are only a preparation.'

In 'The Secret of the Veda', he has explained the symbolic meaning of various important Vedic deities based on some selected hymns -

1. Indra, Giver of Light and the Thought-Forces (I.4,I.171)
2. Agni, the Illumined Will ,and the divine force (I.77,V.128)
3. Surya Savitri, Creator and Increaser (V.81)
4. BhagaSavitri, the Enjoyer (V.82)
5. Vayu, the Master of the Life Energies (IV.48)
6. Brihaspati, Power of the Soul (IV.50)
7. The Ashwins, Lords of Bliss (IV.45)
8. The Ribhus, Artisans of Immortality (I.20)
9. Vishnu, the All-Pervading Godhead (I.154)
10. Soma, Lord of Delight and Immortality (IX)

He looks upon Gods as symbols of the psychological functions. He has explained certain Vedic terms as ritam,ananda,etc in psychological sense. This spiritual interpretation of Vedas done by Sri Aurobindo establishes the eternal truth and an impersonal knowledge of Vedic Seers. Yaska's Nirukta is regarded as essential text in this respect. Dr. S.Radhakrishnan, while writing on the Veda in his book called *Indian Philosophy*, says, 'Sri Aurobindo sees a great light and psychological truth in the Veda. For him Veda is sacred knowledge.

(4) Yogic Experience of Sri Aurobindo

The key of the Veda was found by his ownpersonal experiences which preceded his understanding of the Veda. It is not as if these experiences came to him after reading the Veda and then finding them in the Veda he confirmed his own experiences, it is the other way round. He already had the experiences of these highest powers of consciousness and found a clue to them in the *Rig Veda*. It is said in the Veda that only the

seer canunderstand the words of the seer. This is the Vedic expression itself *ninyavachamsi (*RV4.3.16*)*, that is, secretwords, *kavayenivachanani*, they are revealed only to the kavi, to the poet, to the seer, and it is confirmed in the case of Sri Aurobindo.The secret meaning of the Veda was revealed only to the seer,to Sri Aurobindo. I consider Sri Aurobindo's *Secret of the Veda* to be of the highest importance.

His Books 'the divine life' and 'Synthesis of Yoga' talk about supramental manifestation and higher consciousness. In *The Life Divine he describes* about the psychic being. He himself was a Yogi, Rishi and tapasvi. He prepared himself for the divine grace. It seems, as though, as soon as Sri Aurobindo touched the Vedic Word, the inner and secret vibrations of that Word began to reveal its resonances with Sri Aurobindo's inner spiritual experiences and that Word began to reveal its secret.. It may be further mentioned that Sri Aurobindo wrote long commentaries on *Ishopanishad* and *Kenopanishad*. He translated also several other important Upanishads. These commentaries and translations show us the continuity between the Veda as Sri Aurobindo interpreted it. In the Indian tradition, therefore, the experiences of past seers and sages have not only been verified and repeated but even intensified, enlarged, modified by the new seers and sages. Sri Aurobindo did not learn the idea of the Supermind from the Veda and the Upanishads. What he received about the Supermind was a direct, not a derived knowledge.

On Vedas, Sri Aurobindo has said, 'it is very clear that the Vedas were preceded by avery great civilization, a very powerful stage of civilization'.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 7, No. 12 (197-201) January-June 2019 ISSN 2277-4351

योग और वेदान्त दर्शन में व्यक्तित्व की अवधारणा

-डॉ. अंजू कुमारी

पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार

योगदर्शन में व्यक्तित्व की अवधारणा

'योग' शब्द का सामान्य अर्थ है जोड़ना; किन्तु यहाँ इसका तात्पर्य है जीवात्मा या परमात्मा का मिलन। पतंजलि का योग दर्शन जब यह कहता है कि "चित्त की वृत्तियों का निरोध (सर्वथा) रुक जाना) योग है।[1] तो इस सूत्र से ही व्यक्तित्व की अवधारणा स्पष्ट हो जाती है। चित्त का अर्थ है अन्तःकरण। इसमें सांख्यमतानुसार मन, अहंकार और बुद्धि तीनों ही आ जाते हैं। जब चित्त इन्द्रियों द्वारा बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क में आता है तो वह वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है। इस आकार को ही वृत्ति कहा जाता है। ये क्लिष्ट और अक्लिष्ट रूप से पाँच प्रकार की होती है।[2] इन पर जो विजय पा लेता है, वह व्यक्तित्व का धनी हो जाता है।

यह दर्शन द्रष्टा और दृश्य के रूप में जीव और जगत् को प्रस्तुत करता है। दृश्य जगत् भोग्य है, द्रष्टा-भोक्ता है।[3] और जब दृश्य (जगत्) से द्रष्टा का मोह भंग हो जाता है तब वह अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। अर्थात् योग का कार्य प्रकृति के बंधनों से 'आत्मन्' को मुक्त कराना होता है और यह तभी सम्भव हो सकता है जब मन की अस्थिरता को कम किया जाए। योगदर्शन में ईश्वर और जीव-जगत् का स्पष्ट अंकन हुआ है। पतंजलि का ईश्वर 'पुरुष विशेष ईश्वर' है।[4] वह गुरुओं का गुरु और काल से भी परे है।[5] यह अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इनसे नित्यमुक्त है। जीव इनसे मुक्त नहीं है। ईश्वर कर्म विपाक तथा

---

1. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।। पा०यो० दर्शन - 1/2
2. वृत्तयः पञ्चतयः क्लिष्टाक्लिष्टाः।
   प्रमाण विपर्य विकल्पनिद्रा स्मृतयः।। पा०यो०द०-1/6
3. (क) द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेय हेतुः।। पा०यो०द०-2/17
   (ख) प्रकाशक्रिया स्थितिशीलंभूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।।
   यो०द० 2/18
4. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपराभृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।। यो०द० 1/24
5. पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।। पा०यो०द० 1/26

आशय सम्पर्क से शून्य अद्वितीय व बीजरूप है। महर्षि कहते हैं कि यह संसार दुःखमय एवं हेय है।[1] चित्त की जो वृत्तियां है इनसे संसार में कर्म बंधन है। यह जीव उसी में उलझा है तथा क्लेश, कर्म विपाक में फंसा हुआ है।[2]

अतः यदि वह अपने व्यक्तित्व को उत्कर्ष पर ले जाना चाहता है तो चित्तवृत्तियों के निरोध से क्लेशों का नाश करके तथा अभ्यास और वैराग्य का सम्पादन करके[3] परमात्मा का योग प्राप्त कर सकता है। क्लेश नाश का एक व्यावहारिक मार्ग बताते हुए तथा उत्तम कर्माधिकारी के लिए जिस योग पथ का सर्जन महर्षि करते हैं वह है- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।[4] यही अष्टांग योग है। यहीं साधना पथ है। जिस पर चलकर व्यक्ति अपने विवेक से व्यक्तित्व का समग्र विकास कर सकता है।[5] तथा दुःखों, क्लेशों का न्यूनीकरण होकर[6] अन्तःकरण शुद्ध होकर वह जीवन्मुक्त अवस्था में (अर्थात् क्लेश और कर्मो का सर्वथा नाश होने से) पहुँच जाता है। फिर उसे न किन्हीं भोगों से तात्पर्य रहता है, न किसी कर्त्तव्य से, तब द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है।[7] प्रकृति से गुणों की प्रवृति का सर्वथा अलग हो जाना ही कैवल्य है।[8]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि योग का अष्टाँग मार्ग व्यक्तित्व के सम्पूर्ण एवं संगठित विकास के लिए अति आवश्यक है क्योंकि इनके पालन से ही चित्त के विकार दूर होते हैं। जब मानसिक कार्यों पर व्यक्ति का सम्पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो जाता है तब व्यक्ति के सामने अनुपम चेतना का उदय होता है। इस प्रकार योगदर्शन व्यक्तित्व की सम्पूर्ण अवधारणा का चित्र प्रस्तुत करता है।

---

1. (क) परिणामतापसंस्कारादुखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुखमेव सर्वं विवेकिनः।। यो०यो०सू० 2/15
   (ख) हेयं दुःखमनागतम्।। पा०यो०सू० 2/16
2. (क) क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्म वेदनीयः।। पा०यो०सू० 2/12
   (ख) सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।। पा०यो०सू० 2/13
3. अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।। पा०यो०सू० 1/12
4. (क) यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्टावङ्गानि।। यो०सू० 2/29
   (ख) अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।। पा०यो०सू० 2/30
   (ग) शौचसंतोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।। पा०यो०सू० 2/32
5. (क) विवेकख्यातिरविपलवा हानोपायः।। पा०यो०सू० 2/26
   (ख) योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षयेज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।। पा०यो०सू० 2/28
6. (क) समाधिभावनार्थः क्लेश तनू करणार्थश्च।। पा०यो०द० 2/2
   (ख) ततः क्लेशकर्म निवृतिः।। पा०यो०सू० 4/30
7. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।। पा०यो०सू० 1/3
8. तद्भावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।। पा०यो०सू० 2/25

वेदान्त दर्शन

वेदान्तार्गत व्यक्तित्व की अवधारणा स्पष्ट देखी जा सकती है। वेदान्त में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को ही जीव कहा जाता है। शरीर तथा इन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहा है।[1] वहाँ कहा गया है कि शरीरादि की ही उत्पत्ति होती है, नित्य आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होती। आत्मा स्वरूप के विषय में कहा गया है कि आत्मा चैतन्य रूप है क्योंकि परब्रह्म ही उपाधि सम्पर्क से जीवभाव में विद्यमान रहता है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ही आत्मा अणु है। आत्मा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति त्रिविध अवस्थाओं में तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कोषों में व्याप्त है। किन्तु आत्मा का शुद्ध चैतन्य इन कोषों से भी परे है।[2] कहा जा सकता है कि पुरुष के सम्पूर्ण शरीर (मनोशारीरिक) का निर्माण मन के समान ही शरीर के पाँच तत्वों से होता है। इन्हें ही वेदांत में कोष कहा गया है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं।

वेदांतानुसार जीव अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण ही संसार में अनन्त क्लेशों को भोगता हुआ जीवन यापन करता है। अविद्या के कारण ही वह अपने शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वरूप को भूला रहता है। वह वास्तव में सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म स्वरूप ही है।[3] आत्मा और ब्रह्म में नितान्त एकता है। नानात्व से संसार है और एकत्व से मुक्ति है। ज्ञान और कर्म समुच्चय से ही जीवात्मा अपने व्यक्तित्व को उत्कृष्ट बना सकती है। साधारणतया मलिनचित् आत्मतत्व का बोध नहीं कर सकता परन्तु कामनाहीन नित्यकर्म के अनुष्ठान से चित्तशुद्धि उत्पन्न होती है जिससे बिना किसी प्रतिबंध के जीव आत्मस्वरूप को जान लेता है।[4]

इस दर्शन में कर्म करने का स्पष्ट उल्लेख है। जिससे व्यक्तित्व का निर्माण व विकास होता है। यहाँ कुछ सूत्रों में सुकृत व दुष्कृत कर्मों का[5] तथा कुछ में स्वाध्याय का[6] कुछ में काम्यकर्मों को करने का[7] तथा अग्निहोत्रादि कर्मों के अनुष्ठान

---

1. जीवो नाम अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यम्।
2. ब्र०सू० 3/2/10 पर शांकरभाष्य
3. जीवो ब्रह्मैव नापरः।
4. यो नित्यं कर्म करोति तस्य फलरागादिना अकलुषीक्रियमाणमन्तःकरणम्।
   नित्यैश्च कर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुध्यति।
   विशुद्धप्रसन्नमात्मालोचनक्षमं भवति।। गीताभाष्य - 18/10
5. वेदान्त 3/1/9-11
6. वेदान्त 3/3/3
7. वेदान्त - 3/4/60-61

का भी वर्णन मिलता है।[1] यहाँ योगांगों का भी वर्णन मिलता है जिनसे व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को उत्कृष्ट बना सकता है। यहाँ कहा है कि सकाम कर्मों का अनुष्ठान पशुत्व की प्राप्ति कराता है। जो व्यक्ति स्वाभाविक राग द्वेष मूलक प्रवृतियों का दास है वह अधर्म परायण व्यक्ति असुर है। उसका व्यक्तित्व अधम है। परन्तु राग-द्वेष को परास्त कर शुभ वासना के प्राबाल्य से धर्माचरण करने वाला पुरुष 'देव' कहलाता है और यह व्यक्तित्व विकास का ही चरमोत्कर्ष है।[2]

वेदान्त में जो 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि महावाक्य हैं, उनसे भी व्यक्तित्व की अवधारणा पुष्ट होती है। इनमें 'त्वम्', अहम् व अयमात्मा ये आत्मा के शुद्ध स्वरूप के सूचक हैं। यह आत्मा (स्वचेतना) ही मानवीय व्यक्तित्व की मूल विशेषता है। मन, शरीर एवं आत्मा की जो एकत्रयी है, उसे वेदान्त स्वीकारता है। सामान्य तत्वों की अपेक्षा कुछ ऐसे तत्व हैं जो व्यक्ति को सोचने, अनुभव करने, इच्छा करने एवं कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। शंकराचार्य के अनुसार अपना 'स्व' ही चेतना है तथा रामानुजाचार्य चेतना को ही मानवीय व्यक्तित्व की मूलभूत विशेषता मानते हैं। यह स्व, चेतना या आत्मा व्यक्तित्व स्वरूप का मूल है।[3]

इस प्रकार वेदान्त में आत्मतत्व की अवधारणा के साथ ही व्यक्तित्व की अवधारणा सिद्ध होती है। बुद्धि, मन, इन्द्रियों तथा अहंकारादि की उपाधि से युक्त आत्मा ही जीव है और जो योनियों में संचरण करता है तथा प्रारब्ध और संचित कर्मफलों को भोगता है। अज्ञान में पड़कर वह जीव इस प्रपञ्चमय संसार में त्रिविध दुःखों का वहन करता है, वैसे वह शुद्ध-बुद्ध, अजर-अमर व निर्लिप्त है। चित्तवृत्ति जब ज्ञान के द्वारा निर्लिप्त हो जाती है तब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के मलों को जला डालता है या भस्मसात् कर देता है।[4] तब ज्ञान की दीप्ति से उसे तत्व का भान होता है।

इस प्रकार शंकराचार्य के मत में कर्म तो केवल चित्तशुद्धि के साधक हैं।[5] विशुद्ध ज्ञान ही व्यक्ति की मुक्ति का एकमात्र साधन है।[6] वेदान्त में व्यक्तित्व को

---

1. वेदान्त - 3/4/19
2. स्वाभाविकौ रागद्वेषौ अभिभूय यदा शुभवासना प्राबल्येन धर्मपरायणो भवति तदा देवः यदा स्वभावसिद्ध रागद्वेष प्राबल्येन अधर्मपरायणो भवति तदा असुरः।। गीता व्याख्यायां मधुसूदनः।
3. व्यक्तित्व, सम्प्रत्यय, निर्धारक एवं सिद्धान्त, पृष्ठ 9 से 11, आराधना शुक्ला।
4. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
   क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।
5. चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये।।
6. ऋतेः ज्ञानान्नमुक्तिः।

उत्कृष्ट बनाने हेतु साधक चतुष्टय अर्थात् नित्यानित्य विवेक, शम (मन की एकाग्रता), दम (इन्द्रियों को वश में करना), उपरति (वृत्तियों का बाह्य विषयों का आश्रय न लेना), तितिक्षा (चिन्ता, शोक से रहित अप्रतीकार पूर्वक दु:खों को सहना), समाधान (श्रवणादि में चित्त की एकाग्रता), गुरु और वेदान्त वाक्यों में अटूट विश्वास, मुमुक्षत्व (मोक्ष पाने की इच्छा)।[1] इस प्रकार उपरोक्त गुणों को अपने जीवन में अपनाने पर वेदान्तानुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व का समग्र विकास सम्भव है।

✦✦✦

1. भारतीय दर्शन, पृष्ठ 377, आचार्य बलदेव उपाध्याय।

इह वेदवैदीदथ सत्यमस्ति न वैदिह्यावैदीन्महती विनष्टिः (केनोपनिषद्)

डॉ० एम०एल० आर्य समाजशास्त्र, लोकप्रशासन
एम०ए० (संस्कृत, हिन्दी, इतिहास एवं राजनीति शास्त्र) एम०फिल०,पी-एच०डी०
वेद-व्याकरण-दर्शन साहित्याचार्य (लब्धस्वर्णपदकत्रयः)
अध्यक्ष संस्कृत विभाग, डी०ए०वी० कॉलेज, काँगड़ा (हि०प्र०)

दूरभाष : 01892-265919 (R)
265002 (O)
मोबाइल : 9418105319
सम्पर्क सूत्र : प्रणव कुटीर, जयन्ती विहार
काँगड़ा-176001 (हिमाचल प्रदेश)

पत्रांक 104/523 दिनांक 20/4/2012

सम्मान नीय भगवन् बुधवन्दनीय!
सम्पादकप्रवर श्री प्रणमामि शीर्षे ।
सम्पादकौशल इह प्रणिधिन् तदस्मिन्
प्रेमत्कसार्थ कुशलं नितरां लषामि ॥

लेखं स्वकीयमथ भो बृहसारगर्भं
सम्प्रेषयामि भवते प्रथमं नवीनम् ।
प्राकाश्यमाशु भवता कृपया स नेयः
सम्पार्थये सविनयं भगवन् तदर्थम् ॥

चेत्कामि वा विवशता भवतः प्रकाशे
नेतुं महोदय तदा कृपया स लेखः ।
कैरंगपत्रकपथा भवता सदर्थं
सम्प्रेषणीय इति मे भवतेऽनुरोधः ॥

चेदन्यकामि भविता मम गोचरा वा
देवा तदात्र भवतो जन एष पूज्यः ।
सत्कर्मणां विनिमयो हि परस्परीयो
लोके विवर्धयति यं बहु भागधेयम् ॥

॥ इति शम् ॥

भवदीय आत्मीय एव
म० ल० आर्य

पत्र एवं सम्मतियां

इह वेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः (केनोपनिषद्)

डॉ० एम०एल० आर्य समाजशास्त्र, लोकप्रशासन
एम०ए० (संस्कृत, हिन्दी, इतिहास एवं राजनीति शास्त्र) एम०फिल०,पी-एच०डी०
वेद-व्याकरण-दर्शन साहित्याचार्य (लब्धस्वर्णपदकत्रयः)
अध्यक्ष संस्कृत विभाग, डी०ए०वी० कॉलेज, काँगड़ा (हि०प्र०)

दूरभाष : 01892-265919 (R) 265002 (O)
सम्पर्क सूत्र : 94180 53119
प्रणव कुटीर, जयन्ती विहार
काँगड़ा-176001 (हिमाचल प्रदेश)

पत्रांक 104/523 दिनांक 20/4/2012

सम्मान नीय भगवन् बुधवन्दनीय!
सम्पादकप्रवर श्री प्रणमामि सूरिं।
सम्प्रापकौशल इह प्रणधिन् तदस्मि
श्रेयत्कमार्ग कुशलं नितरां लषामि॥

लेखं स्वकीयमथ श्री बहुसारगर्भं
सम्प्रेषयामि भवते प्रथमं नवीनम्।
प्राकाश्यमाशु भवता कृपया स नेयः
सम्प्रार्थये सविनयं भगवन् तदर्थम्॥

चेत्कापि वा विवशता भवतः प्रकाशं
नेतुं महोदय तदा कृपया स लेखः।
वैरंगपत्रकपथा भवता मदर्थं
सम्प्रेषणीय इति मे भवतेऽनुरोधः॥

चेदन्यकापि भविता मम गोचरा वा
सेवा तदात्त भवता जन एष पूज्यः।
सत्कर्मणां विनिमयो हि परस्परीयो
लोके विवर्धयति के बहु भागधेयम्॥

॥ इति शम्॥

भवदीय आत्मीय एव
म० ल० आर्य

।। ओ३म् ।।

पूनम सूरी
प्रधान
डी.ए.वी. कॉलेज प्रबंधकर्त्री समिति
आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा
S3040

20 मई, 2019
24-5-19

मान्य प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री जी,

आशा है, आप स्वस्थ और सानन्द हैं।

आपका 26 अप्रैल, 2019 का पत्र प्राप्त हुआ जिसके साथ आपने 'वैदिक वाग् ज्योतिः' नामक शोध-पत्रिका के अंक 10 और 11 भेजे हैं। धन्यवाद।

आप वेद और वैदिक अनुसंधान के प्रति गहरी निष्ठा रखने वाले समर्पित शोधकर्त्ता हैं। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में अपने कार्यकाल में आपने अनुसंधान को बहुत सक्रिय बनाया है, इसके लिए मैं आपको हार्दिक साधुवाद देता हूँ।

'वैदिक वाग् ज्योतिः' का दसवाँ अंक जो **वैदिक वाङ्मय में मनोविज्ञान** को समर्पित है—बहुत ही उपयोगी शोध-ग्रंथ है। लगभग 131 पृष्ठों में वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, आयुर्वेद ग्रंथ और 6 दर्शनों में मनोविज्ञान की स्थिति को स्पष्ट करते हुए मन, बुद्धि, अंतःकरण पर विशद् प्रकाश डालते हुए स्वामी दयानन्द के विचारों को जिस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है और विशेष रूप से शिक्षा में मनोविज्ञान की भूमिका को जिस तरह स्पष्ट किया गया—वास्तव में प्रशंसनीय है।

मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि आपको दीर्घायु दें, स्वस्थ रहें और इसी प्रकार वेद मंथन में अपना समय लगाते रहें।

शुभकामनाओं सहित,

भवदीय
पूनम सूरी

(पूनम सूरी)

प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
30, योगीविहार, ज्वालापुर
हरिद्वार-249 407

डी.ए.वी. कॉलेज प्रबंधकर्त्री समिति, चित्रगुप्त रोड, पहाड़गंज, नई दिल्ली-110 055
दूरभाष : 011-23543418, ई-मेल : psuri@milap.com, president@davcmc.net.in

Vaidika Vāg Jyotiḥ is a half yearly Refereed & Peer-Reviewed International Vedic Journal of Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar. Manuscripts should be submitted to the Editor both in Electronic Form and in Hard Copy (Walkman 901 or 905, typed on A4 size paper). Research papers of late eminent vedic scholars recommended by reviewers can also be consider for publication.

Copyright © Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar.

The Advice and information in this Journal are believed to be true and accurate but the person associated with the production of the journal can not accept any legal responsibility for any errors or omissions that may be made. All disputes are subject to jurisdiction of the District Court Haridwar, uttarakhand only -***Editor in Chief***

Contact for :-

Submission of Manuscript

Chief Editor 'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Haridwar - 249 404 Uttarakhand, INDIA

Email - dineshcshastri@gmail.com

Tel : +91-9410192541

http:/www.gkv.ac.in

For further information Mail to :

Prof. Dinesh Chandra Shastri

Chief Editor (dineshcshastri@gmail.com)

Note : *For subscription and related enquiries feel free to contect Business Manager & editor*

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882
(UGC Approved Half Yearly Journal)
January-June 2019

'वैदिक वाग् ज्योतिः' 'Vaidika Vāg Jyotiḥ'

An International Refereed & peer-Reviewed Research Journal on Vedic Studies

Aims & Objectives

1. *To rectify and clarify the illusionary thoughts expressed by critics on Vedas, by referring to the existing logical proof and arguments, in Shastras.*
2. *To extract the knowledge-scientific or otherwise, hidden in Vedas.*
3. *To publish the original Vedic findings.*
4. *To prepare special edition on Vedic doctrine, containing detailed arguments for notified Vedic research outcomes.*
5. *To accelerate from Brahma to Jaimini School of Vedic thoughts for removing the illusions prevailing about Vedas.*
6. *To publish critical edition of work carried out on Vedas by citing the facts that originally existed in Vedic books, rarely available.*

उद्देश्य

1. विद्वानों द्वारा किये गये और सम्प्रति किये जा रहे वेद से सम्बन्धित भ्रमपूर्ण विचारों की शास्त्रीय प्रमाणों एवं तर्क तथा युक्ति के आधार पर समालोचना तथा तत्सम्बन्धी समाधान करना।
2. वेदों में निहित ज्ञान-विज्ञान के विविध पक्षों को उद्घाटित करना।
3. वेद तथा वैदिक साहित्य से सम्बन्धित मौलिक अनुसंधानात्मक लेखों का प्रकाशन करना।
4. वैदिक सिद्धान्तों पर विस्तृत विवेचनात्मक विशेषांक तैयार करना। जिनमें पूर्व लिखित एवं प्रकाशित तत्सम्बन्धी लेखों/ग्रन्थों का भी उपयोग किया जायेगा।
5. ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त ऋषियों की वैदिक विचारधारा को वेद विषयक भ्रान्तियों को दूर करने के लिए गति देना।
6. वेदविषयक ग्रन्थों की समीक्षा एवं अप्रकाशित अनुपलब्ध वैदिक ग्रन्थों के मूलपाठ का प्रकाशन करना।